साहित्य-देवता

o

माखनलाल चतुर्वेदी

o



ग्रन्थ-संख्या—२१०

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती भण्डार
लीडर प्रेस इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण
संवत् २०१६
मूल्य ८/००

मुद्रक
सीताराम धुब्दे
लीडर प्रेस, इलाहाबाद



स्वर्गीय पं० माधवराव जी सप्रे

मेरे जीवन के वाणी-नियन्त्रक

स्वर्गीय

पण्डित माधवरावजी सप्रे

के

श्री चरणों में—





स्वर्गीय पं० माधवराव जी सप्रे

मेरे जीवन के भाग्य-नियन्त्रक

स्वर्गीय

पण्डित माधवरावजी सप्रे

के

श्री चरणों में—



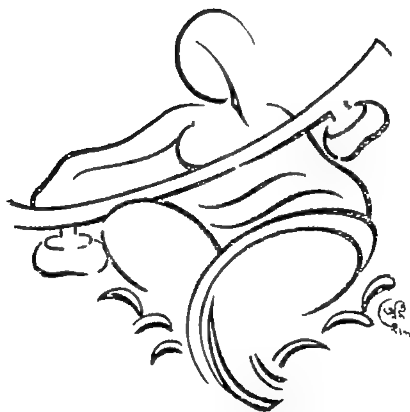


श्रीयुत पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी

भूमिका

मेरी इस बोली का परिचय मैं कौन-सी भूमिका लिखकर दूँ। मेरा इन पृष्ठों में किया हुआ सारा प्रयत्न ही एक भूमिका-मात्र है। कोई भाग्यशाली इस भूमिका के आगे, प्रकृत वस्तु को लिख कर मेरे इस अधूरे प्रयत्न को पूरा करेगा; इसी आशा से मैं भारती के मन्दिर में यह अधूरा अर्घ्य चढ़ाने का साहस कर रहा हूँ।

—माखनलाल चतुर्वेदी



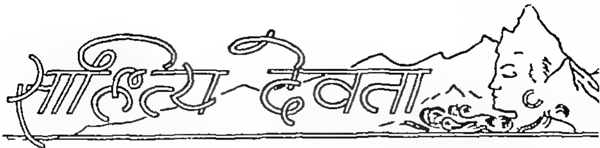
साहित्य-देवता



अनुक्रमणिका







साहित्य-देवता

मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ।

"परन्तु भूल मत जाना कि मेरी तसवीर खींचते-खींचते तुम्हारी भी एक तसवीर खिंचती चली आ रही है।"

अरे, मैं तो स्वयं ही अपने भावी जीवन की एक तसवीर अपने अटैची केस में रक्खे हुए हूँ। तुम्हारी तसवीर बना चुकने के बाद मैं उसे प्रदर्शनी में रखनेवाला हूँ। किन्तु, मेरे मास्टर मैं यह पहले देख लेना चाहता हूँ कि मेरे भावी-जीवन को किस तरह चित्रित कर तुमने अपनी जेब में रख छोड़ा है।

"प्रदर्शनी में रक्खो तुम अपनी बनाई हुई, और मैं अपनी बनाई हुई रख दूँ,—केवल तुम्हारी तसवीर।"

ना सेनानी, मैं किसी भी आईने पर बिकने नहीं आया। मैं कैसा हूँ, यह पतित होते समय खूब देख लेता हूँ। चढ़ते समय तो तुम्हीं, केवल तुम्हीं, दीख पड़ते हो।

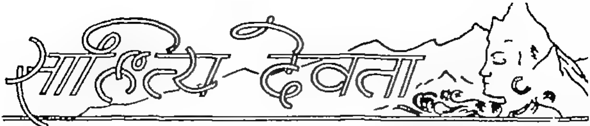
"क्या देखना है?"

तुम्हें; और तुम कैसे हो यह कलम के घाट उतारने के समय, यह हरगिज नहीं भूल जाना है कि तुम किसके हो।

"आज चित्र खींचने की बेचैनी क्यों है?"

कल तक मैं तुम्हारा मोल-तोल कूता करता था। आज अपनी इस वेदना को लिखने के आनन्द का भार मुझसे नहीं सँभलता।

सचमुच पत्थर की क़ीमत बहुत थोड़ी होती है, वह बोझीला ही अधिक होता है।"



बिना बोझ के छोटे पत्थर भी होते हैं जिनमें से एक-एक की क़ीमत पचासों हाथियों से नहीं कूती जाती। परन्तु—

"परन्तु क्या?"

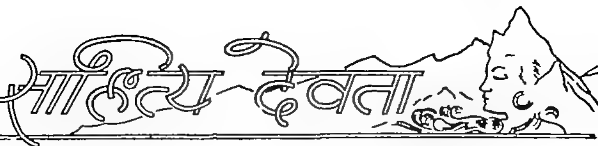
मेरे प्रियतम, तुम वह मूल्य नहीं हो जिसकी, अभागे गाहक की अड़चनों को देखकर अधिक-से अधिक माँग की जाती है।

हाँ, तो तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ। मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो; क़लम की जीभ को बोल लेने दो। किन्तु, हृदय और मसिपात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अप-विराम, अलंकृतता का अभिराम केवल चपलता का गर्व गिरानेवाला श्याम मात्र होगा। परन्तु यह काली बूँदें अमृत-बिंदुओं से भी अधिक मीठी अधिक आकर्षक और मेरे लिए अधिक मूल्यवान् हैं। मैं उनसे अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ।

*   *   *

कौन सा आकार दूँ? मानव-हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ? तुम अनन्त धाम्न् आत्माओं के ऊँचे और गहरे —पर स्वच्छ जो हो! मेरी काली क़लम का बल समेटे नहीं सिमटता। तुम कल्पनाओं के मन्दिर में बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो! मानव कुल के फूलों और लड़ाके सिपाही के रक्त-बिंदुओं के संग्रह तुम्हारी तसवीर खींचूँ मैं? तुम तो वाणी के सरोवर में अन्तरात्मा के निवासी की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों में खेलते हुए। रक्त के बोझ और तपन से लाली, पर पंक्तियों, पुष्प-राशियों और लताओं तक को स्नेहलेपन में नहलाये हुए।

वेदनाओं के विकास के संग्रहालय, तुम्हें किस नाम से पुकारूँ?



मानव-जीवन की अब तक पनपी हुई महत्ता के मन्दिर! ध्वनि की सीढ़ियों से उतरता हुआ प्रेम का माखन चोर क्या तुम्हारी ही गोद के कोने में 'राधे' कहकर नहीं दौड़ा आ रहा है? अहा, तब तो तुम ज़मीन को आसमान से मिलानेवाले जीने हो; गोपाल के चरण चिह्नों को साथ-साथ धर चढ़ने के साधन! ध्वनि की सीढ़ियाँ जिस क्षण लचक रही हों, और कल्पना की सुकोमल रेशम-डोर जिस समय गोविन्द के पदारविन्द के पास पहुँच कर झूलने की मनुहार कर रही हो उस समय यदि वह झूल पड़ता होगा!— आह, तुम कितने महान् हो! इसीलिए लाँगफेलो बेचारा, तुम्हारे चरण-चिह्नों के मार्ग की कुञ्जी, तुम्हारे ही द्वार पर लटका गया है, मेरे मास्टर। चिड़ियों की चहक का संगीत, मैं और मेरी अमृत-निस्यंदिनी गाय मन-लता, दोनों सुनते हैं। "सखि चलो सजन के देस, जोगन बन के धूनी लासेंगे"—मैं और मेरा घोड़ा दोनों जहाँ से यही 'शम्भु' जी ने अपनी यह तान छेड़ी थी। परन्तु यह तो तुम्हीं थे, जिसने द्विपद और चतुष्पद का विश्व को निगूढ़ तत्त्व सिखाया। अरे, पर मैं तो भूल ही गया, मैं तो तुम्हारी तसवीर खींचने चला था न!

* * *

हाँ, तो अब मैं तुम्हारी तसवीर खींचना चाहता हूँ। पशुओं को वश रखनेवाली ज़बान और लज्जा ढकने के लिए लपेटी जानेवाली वृक्षों की छालें, ये इतिहास से भी परे खड़े हुए हैं; और यह देखो श्रेणी-बद्ध अनाज के अंकुर और शाहज़ादे कपास के वृक्ष पादप्रपदा अपने ऐश्वर्य को मस्तक पर रखकर भू-चाल चमने के लिए वायु के साथ होड़ बद रहे हैं। इन दोनों ज़मानों के बीच की ज़ंजीर तुम्हीं तो हो! विचारों के उत्थान और

साहित्य-देवता

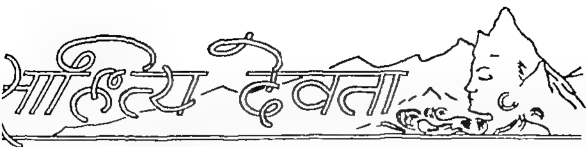
पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन को मार्ग-दर्शक बना तुम्हीं न कपास के तंतुओं से झीने तार खींचकर लिबास ही की तरह आकार के जगत् में कल्याणी पांचाली-वाणी की लाज बचा रहे हो !

कितने दुश्शासन आये और चले गये। तुम्हारी बीन से रात को तड़पा देनेवाली सोरठ गाई थी और सबेरे विश्व-संहारकों से जूझने जाते समय उसी बीन से युद्ध के नक्कारे पर डंके की चोट लगाई थी। नगाधिराजों के मस्तक पर से उतरनेवाली निम्नगाओं की मस्ती भरी दौड़ पर और उनसे निकलनेवाली नहरों की कुरबानी से हरियाली होनेवाली भूमि पर, लजीली पृथ्वी से लिपटे तरल नीलाम्बर महासागरों पर, और उनकी लहरों को चीर कर ग़रीबों के रक्त से छीनकर धान, साम्राज्यों का निर्माण करने के लिए दौड़नेवाले जहाज़ों के मंचों पर, तुम्हीं—केवल तुम्हीं लिखे दीखते हो।

इंगलैंड का प्रधानमंत्री, इटली का डिक्टेटर, अफ़ग़ानिस्तान का पदच्युत, चीन का ऊँघ कर जागता हुआ और रूस का सिंहासन उलटने और क्रान्ति से शान्ति का पुण्याह्वान करनेवाला ग़रीब—वह तो तुम्हीं हो। यदि तुम स्वर्ग न उतारते तो मन्दिरों में किसकी आरती उतरती ! वहाँ चमगीदड़ टँगे रहते, उलूक बोलते।

मस्तिष्क के मन्दिर जहाँ भी तुमसे खाली हैं, वहीं तो हो रहा है। कुतुबमीनारों और पिरामिडों के गुम्बज, तुम्हारे ही आदेश से आसमान से बातें कर रहे हैं।

आँखों की पुतलियों में यदि तुम कोई तसवीर न खींच देते तो ये बिना दाँतों के ही चींथ डालतीं, बिना जीभ के ही रक्त चूस लेतीं।



वैद्य कहते हैं धमनियों के रक्त की दौड़ का आधार हृदय है—क्या हृदय तुम्हारे सिवा किसी और का नाम है?

व्यास का कृष्ण और वाल्मीकि का राम जिसके पंखों पर चढ़कर हजारों वर्षों की छाती छेदते हुए आज भी लोगों के हृदयों में विराज रहे हैं। वे चाहे कागज के बने हों चाहे भोज-पत्रों के, वे पंख तो तुम्हारे ही थे।

रूठो नहीं, स्याही के शृंगार, मेरी इस स्मृति पर तो पत्थर ही पड़ गये कि—

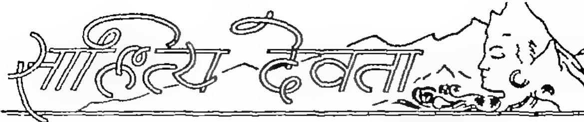
मैं तुम्हारा चित्र खींच रहा था।

* * *

परन्तु तुम सीधे कहाँ बैठते हो? तुम्हारा चित्र? वही टेढ़ी लकीर है। सिपहसालार, तुम देवत्व को आमंत्रण की चुनौती हो। हृदय से घूम कर, धमनियों में दौड़नेवाले रक्त की दौड़ हो और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त-तर्पण भी।

आह, कौन नहीं जानता कि तुम कितनों ही की बंसी की धुन हो, धुन वह, जो गोकुल से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाये हुए है। काल की पीठ पर बना हुआ वह पुल मिटाये मिटता नहीं, भुलाये भूलता नहीं।

ऋषियों का राग, पैगम्बरों का पैगाम, अवतारों की आन युगों को चीरती किस लालटेन के सहारे हमारे पास तक आ पहुँची? वह तो तुम हो। और आज भी कहाँ ठहर रहे हो? सूरज और चाँद को अपने रथ के पहिये बना, धूम्र के घोड़ों पर बैठे, बढ़े ही तो चले जा रहे हो प्यारे! उस समय हमारे



संपूर्ण युग का मूल्य तो मेल-ट्रेन में पड़ने वाले छोटे से स्टेशन का-सा भी नहीं होता।

पर इस समय तो तुम मरे पास बैठे हो।

तुम्हारी एक मुट्ठी में भूतकाल का वैभव छटपटा रहा है—अपने समस्त समर्थकों समेत; दूसरी मुट्ठी में विश्व का विकसित पुरुषार्थ विराजमान है।

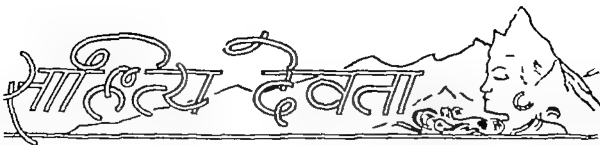
पुष्प के बन्धन में परिवर्तित स्वरूप कुंजविहारी, आज तो कल्पना की फुलवारियाँ भी विश्व की स्मृतियों में तुम्हारी तर्जनी के इशारों पर लहलहा रही हैं।

तुम नाथ नहीं हो, इसीलिए कि मैं अनाथ नहीं हूँ। किन्तु हे अनन्त पुरुष, यदि तुम विश्व की कालिमा का बोझ सँभालते मेरे घर न आते तो ऊपर आकाश भी होता और नीचे ज़मीन भी; नदियाँ भी बहतीं, और सरोवर भी लहराते; परन्तु मैं और चिड़ियाँ, दोनों, और छोटे मोटे पशु-जन्तु स्वाभाविक लता-पत्रों और अधफलों से अपना पेट भरते होते। मैं भर बैसाख में भी वृक्षों पर शाखा-मृग बना होता। चीते-सा गुर्राता, मोर-सा कूकता और कोयल-सा गा भी देता।

परन्तु मेरा और विश्व के हरियालेपन का उतना ही सम्बन्ध होता जितना नर्मदा के तट पर हरसिंगार की पुष्प-राशि में लगे हुए टेलिग्राफ के खम्भे का नर्मदा से कोई सम्बन्ध हो।

उस दिन भगवान् 'समय' न जाने किसका, न जाने कब, कान उमेठ कर बसते बनते। मुझे कौन जानता! विन्ध्य की चामुनों और अरावली की सिरनियों के उत्थान और पतन का इतिहास किसके पास लिखा है! इसीलिए तो मैं तुमसे कहता हूँ —

"ऐसे ही बैठे रहो, ऐसे ही मुसकाहु।"



क्यों ?

इसलिए कि अन्तरतर की तरल-तूलिकायें समेट कर, अराजक ! मैं तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ।

* * *

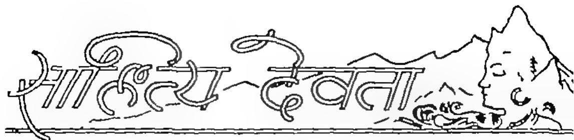
क्या तुम अराजक नहीं हो ? कितनी गद्दियाँ तुमने चकनाचूर नहीं कीं ? कितने सिंहासन तुमने नहीं तोड़ डाले ? कितने मुकुटों को गला कर घोड़ों की सुनहली खोगीरें नहीं बना दी गईं ?

सोते हुए अलमस्त नरमुण्डों के जागरण, नाड़ी रोगी के ज्वर की माप बताने में चूक सकती है किन्तु तुम मूक होकर भी ज़माने का गणित के अंकों जैसा नपा-तुला और दीपक जैसा स्पष्ट निर्णय करते चले आ रहे हो। आह, राज्य पर होनेवाले आक्रमण को बरदाश्त किया जा सकता है, किन्तु मनोराज्य की लूट तो दूर, उस पर पड़नेवाली ठोकर कितने प्रलय नहीं कर डालती।

सोने के सिंहासनों पर विराजमानों की हत्याओं से ज़माने के मनस्वियों के हाथ लाल हैं और नकली पर दिये जानेवाले रंग की तरह उस शक्ति की सीमा निश्चित है। परन्तु मनोराज्य की मृगछाला पर बैठे हुए बिना शस्त्र और बिना सेना के बृहस्पति के अधिकार को चुनौती कौन दे सके ?

मनोराज्य पर छूटनेवाला तीर प्रलय की प्रथम चेतावनी लेकर लौटता है। मनोराज्य के मस्तक पर फहराता हुआ विजय-ध्वज जिस दिन धूलि धूसरित होने लगे उस दिन मनुष्यत्व दूरबीन से भी ढूँढ़े कहाँ मिलेगा ? उस दिन, ज्वालामुखी फट पड़ा होगा, वज्र टूट पड़ा होगा।

प्यारे, शून्य के अंक गति के संकेत और विश्व के पतन-पथ की



तथा विस्मृति की गति की लाल-मंडी तुम्हीं तो हो। तुम्हारा रंग उतरने पर वह आत्मतर्पण ही है जो फिर तुम पर लालिमा बरसा सके। जिस मंदिर का भंडा लिपट जाय, वह ढोंगढोल हो उठे, उसमें नर-नारायण नहीं रहते। उस देश को पराये चरण अभी धोने हैं, अपने मांस से पराये चूल्हे अभी सौभाग्यशील बनाये रखने हैं, पराई उतरन अभी पहननी है। मैं, प्रियतम तुम्हारी—

" उतरन पहनी हुई तसवीर नहीं खींचूँगा। "

* * *

उतरन—बुरी तरह स्मरण हो आया। बुरे समय, बुरे दिनों। अपना कुछ न रखनेवाला ही उतरन पहने।

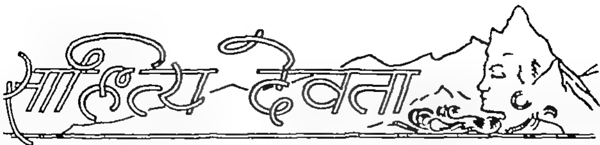
जो क्षितिज के परे अपनी अँगुली पहुँचा पाये, जो प्रत्यक्ष के उस ओर रक्खी हुई वस्तु को छू सके, वह उतरन क्यों पहने।

फ्रेंच और जर्मन जैसी भाषाओं का आपस का लेन देन उतरन नहीं, वह तो भाई चारे की भेंट है।

एक भिखारिन माँ मेरी भी है। उसने भी रत्न प्रसव किये हैं। पत्थरों से बोझीले, कंकड़ों से गिनती में अधिक; खाली अन्तःकरण में मृदंग से अधिक आवाज़ करनेवाले।

मातृ-मन्दिर में उतरन पर एक दूसरे से होड़ लग रहा है। उतरन-संग्रह की बहादुरी का इतिहास उसकी पीठ पर लदा हुआ है।

गत वर्ष होनेवाले विश्व-परिवर्तनों के छपे, पुराने अखबारों पर, आज हम हवाई जहाज़ के नये आविष्कार की तरह बहस करते हैं।



वीणा, वंशी और जल-तरंग का सर्वनाश ही नहीं हो चुका, हारमोनियम और पियानो भी किस काम आएँगे ?

हमारा कोई गीत भी तो हो ? कला से नहलाया हुआ, हृदय तोड़कर निकला हुआ ।

वीणा में तार नहीं, दिल में गुबार नहीं ।

न जाने हम तुम्हारा जन्मोत्सव मनाते हैं या मरण-त्योहार ? रेलगाड़ी पर बैठे बैठे हवाई जहाज देखा करते हैं । बिल्ली के रास्ता काट जाने पर हमारा अपशकुन होता है, किन्तु बेतार का तार स्विट्ज़रलैंड की खबर आस्ट्रेलिया पहुँचाकर भी हमारी श्रुतियों को नहीं छूता । तब हमारी सरस्वती से तो उसका सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है ? एंजिन के रूप में धधकती हुई ज्वालामुखी का एक व्यापार हमारी छाती पर हो रहा है ।

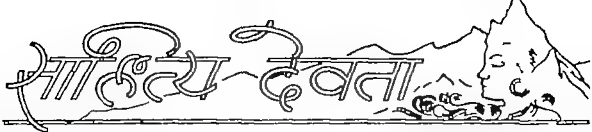
प्यारे, इस समय अधोगति की ज्वाल-मालाओं में से ऊँचा उठने के लिए आकर्षण चाहिए । ऋषियों ने इसी लालच से तो तुम्हारा नाम कृष्ण रक्खा होगा ।

ज़रा तुम युग-संदेशवाहिनी अपनी बाँसुरी लेकर बैठ जाओ । रामायण में जहाँ बालकाण्ड है, वहाँ लंकाकाण्ड भी तो है । तुम्हारी तान में भैरवी भी हो, कलिंगड़ा भी हो ।

ज़रा बन्सी लेकर बैठ जाओ । मैं तुम्हारा चित्र मुरलीधर के रूप में चाहता हूँ ।

* * *

"शिव संहार करते हैं"—कौन जाने ? किन्तु मेरे सखा तुम ज़रूर महलों के संहारक हो । झोपड़ियों ही से तुम्हारा दिव्य गान उठता है ।

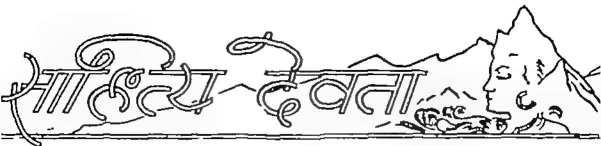


किन्तु यह हमारी पर्ण-कुटी देखी। जाले पड़ गये हैं, वातायन बन्द हो गये हैं। सूर्य की नित्य नवीन प्राण-प्रेरक और प्राण-पूरक किरणों की यहाँ गुजर कहाँ! वे तो द्वार खटखटा कर लौट जाती हैं।

द्वार पर चढ़ी हुई बेलें पानी की पुकार करती हुई बिना फलवती हुए ही अस्तित्व खो रही हैं। पितृ-तर्पण करनेवाले मच्छड़ों को लेकर मैं इस कुटी का कूड़ा साफ करने ही में लग जाना चाहता हूँ। कितने तप हुए कि इस कुटिया में सूर्य दर्शन नहीं होते। मेरे देवता! तुम्हारे मन्दिर की जब यह अवस्था किये हुए हूँ, तब बिना प्रकाश, बिना हरियालेपन बिना पुष्प और बिना विश्व की नवीनता को तुम्हारे द्वार पर खड़ा किये, तुम्हारा चित्र ही कहाँ उतार पाऊँगा!

विस्तृत नीले आसमान का फलक पाकर भी देवता! तुम्हारी तसवीर खींचने में शायद दैवी-चितेरे इसीलिए असफल हुए, उन्होंने चन्द्र की रजतिमा की दावात में, कलम डुबोकर चित्रण की कल्पना पर चढ़ने का प्रयत्न किया और प्रतीक्षा की उद्विग्नता में सारा आसमान मसीदा कर चलते बने। इस बार मैं पुष्प लेकर नहीं, कलियाँ तोड़कर आने की तैयारी करूँगा, और ऐ विश्व के प्रथमप्र-भात के मन्दिर, उषा के नवीनतम प्रकाश की चादर तुम्हें ओढ़ाकर, तुम्हारे उस अन्तरतर का चित्र खींचने आऊँगा, जहाँ तुम अशेष संकटों पर अपने हृदय के टुकड़े भक्ति करते हुए शेष के साथ खिलवाड़ कर रहे होगे।

आज तो उदास, पराजित और भविष्य की वेदनाओं की गठरी सिर पर लादे, मेरे बाग में उन कलियों के आने की उम्मीद में ठहरता हूँ, जिनके कोमल अन्तस्तल को छेदकर उस समय जब तुम नगाधिराज का मुकुट पहने दोनों स्कंधों से आनेवाले संदेशों पर मस्तक झुका रहे होगे, गंगी और



जमुनी का हार पहने गंग के पास तरल चुनौती पहुँचा रहे होंगे, नर्मदा और ताप्ती की करधनी पहने विन्ध्य को विश्व नापने का पैमाना बना रहे होंगे, कृष्णा और कावेरी की कोरवाला नीलाम्बर पहने विजयनगर का खंडहर पुरुष-प्रदेश से गुजार कर सह्याद्रि और अरावली को सेनानी बना मेवाड़ में ज्वाला जगाते हुए देहली से पेशावर और मुल्तान चीरकर अपनी चिर कल्याणमयी वाणी से विश्व को न्योता पहुँचा रहे होंगे, और हवा और पानी की बेड़ियाँ तोड़ने का निश्चय कर, हिन्द-महासागर से अपने चरण धुलवा रहे होंगे,—

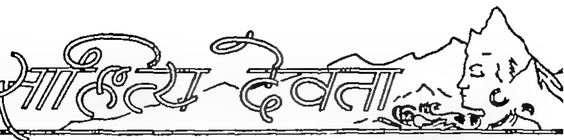
—ठीक उसी सन्निकट भविष्य में, हाँ सूली से कलियों का अन्तःकरण छेद मेरे प्रियतम मैं तुम्हारा चित्र खींचने आऊँगा।

तब तक चित्र खींचने योग्य अरुणिमा भी तो तैयार करनी होगी।

बिना मस्तकों को गिने और रक्त को मापे ही मैं तुम्हारा चित्र खींचने आ गया।

देवता, वह दिन आने दो, स्वर सध जाने दो।





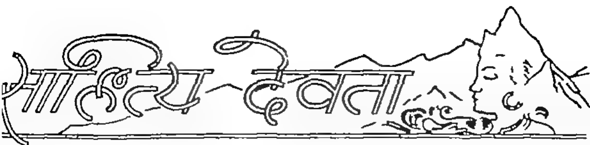
मुक्ति भरत नहिं पामी

एक मेरे घर ही में रहता है, पर जीवन भर हम एक दूसरे से नहीं मिले। एक नर्मदा-तट छोड़कर, गंगा-तट पर रहता है पूरे चार सौ मील की दूरी पर; पर हम रोज लड़ भी लेते हैं, शिकायत भी कर लेते हैं, प्रसन्न भी हो लेते हैं, और रूठ भी लेते हैं। एक दूसरे के बिलकुल पास रहते हैं।

हृदय के संयोग पर विजय पाकर, सन्तों ने जीवन के वियोग का दिवाला काढ़ दिया। भीगी पलकों के 'कुछ और ही' स्वाद को हृदय से अँगुलियों पर उतारने का पागलपन कैसे सधे? खारी बूँदों का सलोनापन, काली बूँदों में आवे? कैसे, किस रास्ते होकर?

मिलन-सुख की माँग?—वह करे, जो वियोग के मूलधन को स्वीकार करे। मुक्ति माँगना भक्तों का बाना नहीं, वे तो बाहर के वियोग की ठुकरा ज्योतने वाले हैं, इसके बिना अंतर की एक-रसता का उनमें ज्वार ही नहीं चढ़ता, ज्वार ही नहीं चढ़ता। अंतर में, 'राधाजी' से एक हो जाना, मीरा के गिरधर का प्यार है, तुलसी के रघुनाथ की घुँघराली लटों की लटकन है, तुकोबाराय (तुकाराम) के विठोबा के पदों की आहट है, सूर की अपने गोपाल को बेबसी के बेमन से भरी फटकार है।

भक्ति?—वह तो है मुक्ति के माथे की लाली, मुक्ति के सुहाग का सिन्दूर-बिन्दु। लोकमान्य ने गीता-रहस्य में संन्यासियों पर एक तीर छोड़ा है—"संन्यासी होने पर भी मनुष्य को मोक्ष का लालच तो रहता ही है।" विनोबा ठीक कहते हैं कि यह तीर भक्तों के सन्मुख नहीं ठहरेगा। तुका और तुलसी, सूर और मीरा ने लालच को ही संन्यास देकर—घर छोड़ा



था, तब फिर उसके पास कौनसा लालच रह जाता, लालच छोड़ने के लालच के सिवा ! भक्ति की 'भाजी बिन लौन' के सामने, 'मुक्ति की महमानी' का मूल्य ही कितना !

' वृन्दावन के राजा हैं दोउ श्याम राधिका रानी
चारि पदारथ करत मजूरी मुक्ति भरत जहँ पानी।'

किन्तु 'छायावादी' के नाम से बदनाम के मुँह से निकलनेवाली वाणी पर कितने नाराज़ ! वेदान्त की रेतीली आवाज़ में 'सोऽहमस्मि' सुनकर हम समझ भी लेते हैं, फिर भी भुला देते हैं। किन्तु यही बात यदि कोई आँसुओं से भिगोकर भक्ति की सरस्वती में कह दे !—वह अपराधी !

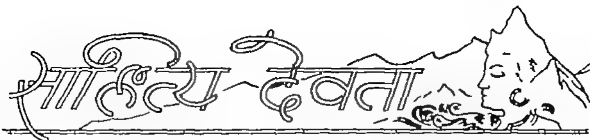
जो आस-पास बहनेवाले मन्द समीरण से कना-फूँसी करता है, जो तितलियों से खेलता, चिड़ियों से मिलकर चहकता, गङ्गा और यमुना के स्वर से स्वर मिलाकर अपनी मीठी स्मृतियों को दुहराता, जो उद्दण्ड होने पर हवा पर ताने कसता, कलियों की चटक का चुटकियाँ बजाकर समर्थन करता है उसे रोकनेवाला कौन !

क्रम का बोलना ही उससे बड़ी कठिनाई से होता है फिर वह बोलने का क्रम अपने पास कैसे पाल सके !

सीख और रीझ दोनों ही का उसके पागलपन पर बाधा डालने का अधिकार नहीं, जब तक वे किसी हृदय से, आँसुओं के अक्षरों में लिखी न आई हों। उसके एक ही स्वर होता है:—

" नन्द के कुमार कुरबान तेरी सूरत पै
तेरे लिए प्यारे हिन्दुआनी हो रहूँगी मैं। "

भक्तों की यही आन, हृदय की यही बे-बसी, प्राणों का यही



सिरताज, मानवता का सनातनधर्म है। चाहे कोई सूली के खंभे से लटक-कर 'अनलहक़' कह दे, चाहे कोई विष का प्याला पीकर —

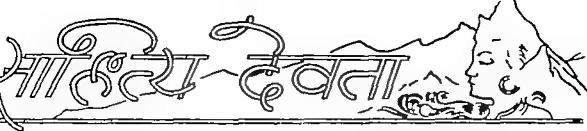
'माई मैंने गोविन्द लीन्हो मोल'

कह दे, चाहे कोई युगों की वाणी में,

'स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी

चित कंचनहि कसैहों' कह दे—





समता

यह अँगड़ाई, यह आलसी, यह शिथिलता तेरी!

"एक-रसता मेरा स्वभाव है। शान्ति मेरा जीवन है।"

पर तुम्हें भयंकर होते कितनी देर लगती है!

"मैं तो समुद्र की लहरों के समान फैली हुई हूँ, एक दूसरी से टूटी हुई, जल-बिन्दुओं में बँटी हुई। सतह के बन्दीख़ाने में रहनेवाली मेरी अल्पता से बड़प्पन की आशा क्यों करते हो!"

विश्व का बड़प्पन, उसकी भयंकरता, उसकी कठोरता, उसका सारा विनाशत्व वृक्षों, घाटियों, पत्थरों और पर्वत-मालाओं तथा हिंस्र जन्तुओं के रूप में शतरंज के खेल की तरह उघाड़ा—बिना ढँका—पड़ा हुआ है।

देवि तुम भी ऊँची हो, नीची हो, गहरी हो, विस्तृत हो, गतिशीला हो। केवल तुम्हारे ऊँचे टीले और तुम्हारी गोद में रहनेवाले भयंकर जीव तुम्हारी ऊपरी तरलाई की चादर ओढ़े विश्व की ओट से परे पड़े हुए हैं।

तुम्हारी ठंडक में कोई आग नहीं लगाना चाहता, किन्तु क्या यह कोई बड़ी माँग है कि जब तुम्हारा तरलतम अंतःकरण दुग्धदान के लिए भी और तुम्हारे अन्तरतम में निवास करनेवाली रत्नों की राशि लूट ले जाने के लिए भी तुम पर चढ़ाई हो, तब जहाँ तुम समस्त भूमण्डल का निगलन की सामर्थ्य रखती हो वहाँ तुम्हारी छाती को छेदने और तुम्हारी तरंगों की मर्जी पर जीनेवाला शत्रु का जहाज़ी बेड़ा तुमसे निगला न जा सके।

देवि, यह तो जल-बिन्दुओं के ज्वार बनने का समय है। लहरों के टूटकर, जल-बिन्दु हो जाने का नहीं।

साहित्य-देवता

"दीवाने, मेरी ठंडक पर विश्व गर्व करता है। कलकल-नाद की कवि कहानी लिखते हैं। मुझसे प्राण-संचार की आशा की जाती है। इसीलिए मेरी बूँदों ने 'जीवन' नाम पाया है। मैं तो तेरा संगीत हूँ—मोहक हूँ, मधुर हूँ, आकर्षक हूँ। इस ठंडक, इस मस्ती, इन लहरों में तो मेरी गोद में खेलनेवाले का भगवान भी सुला डालने का दावा रखती हूँ। मेरी इस मोहकता से तुम कौन-सा संहार किया चाहते हो?"

देवि! मैं तुम्हारी यह बात हरगिज़ नहीं भूलता कि तुम हिन्द-महासागर जैसी हो। हाँ, तुम्हारी तरलाई का नाम जीवन भी है और वन भी है। जीवन हो—अपनी गोद में खेलनेवालों के लिए। और वन हो—अन्तरतम लूटने के लिए आनेवाले लुटेरों के बल की परीक्षा लेने के लिए।

छोटे से सरोवर के अन्तरतम को ठुकराने पर, वह भी अत्याचारी के लिए, अपना चिर-संचित कीच सतह पर फेंक देता है। उसके अंधकार में सरोवर की गोद में निवास करनेवाले छोटे-मोटे जल-जन्तुओं को घातक देख नहीं पाता।

ऐ महानदों और सरोवरों की स्वामिनी, क्या तुम्हारी गोद ही चोरी और बटमारी के लिए खुली छोड़ दी गई है?

माना, तुम्हारी लहरों के तार मिलने पर तुम मधुर हो मोहक हो, आकर्षक हो। जिस दिन तुम्हारे घर की तुम खुद स्वामिनी हो उसी दिन यह काव्य-शास्त्र का विनोद हो सकता है। मैं तो तुम से निवेदन करता हूँ कि घातकों के जहाजी बेड़े तुम्हारे तरल अन्तःकरण को चीरने आ पहुँचे हैं। उनके प्रहारों का जवाब लहरों की संगीतमयी मृत्यु से नहीं—उनके प्यार पूर्ण चीत्कार से दो।

तुम्हारा एक बार उठ पड़ना बड़े-से बड़े बेड़ों को निगल सकता है। यह तो लहरियों के गुनगुनाने और तुम्हारे चुटकियाँ बजाने का समय नहीं है। इन पहाड़ी थपेड़ों पर तुम अपनी अनन्त गहराई के गर्भ में छुपे हुए जल जन्तुओं को जागरण का सन्देश पहुँचाओ। लहरों को पर्वत-शिखरों की समता करने के लिए उत्तेजित होने दो। देवि, इस समय शान्त सतह का गर्व न करो; तुम्हारी तली भयंकर है इसका अभिमान करो। जिसमें टीले हैं, खाइयाँ हैं और भयंकर हिंस्र प्राणी भी हैं। उस इतिहास को यहीं आकर मूक न होने दो जिसमें चौथा पार्थ अनन्त का तख्तनशीन, मेघ मंडित—मेघ-मुकुट-धारी और संहार का अवतार बार—जो भी तुम पर लूट खसोट करने आये, जिन्होंने भी तुम्हारे अन्तस्तल को झकझोरा वे अपने सिंहासन पर जिन्दा लौटकर नहीं गये। ऐसे कितने संहारक पर्वतों को तुमने कल्पना की वस्तु नहीं बना डाला! जिनकी शिलाएँ चित्रित भले हों, पर उनमें न जोश है, न बोझ है और न बल है।

तब क्या तू चाहता है कि मेरी गोद में कोई खेले ही नहीं?"

महामाया, मैं यह नहीं चाहता। खेलें वह, जो तुम्हारे अपने हों। खेलें वह, जो तुम्हारे अपने बन कर रहें। खेलें वह, तुम्हारी गोद के धन, जिनकी माताओं की गोद में समान आदर और स्नेह के साथ खेल सकें। तरलाई की देवता, जो खेलें, तुम्हारी लहरों की मर्जी पर खेलें, तुम्हारी तरंगों की इच्छा पर। खेलें उसी समय तक जब तक तुम्हारा अन्तःकरण न ठुकराया जाय, तुम्हारे भण्डार-भार की रत्न-राशि न लूटी जाय।

लुटेरों को जानने दो कि तुम्हारा हास्य यदि वरदान दे सकता है तो तुम्हारी आत्म-रक्षा-पूर्ण उथल-पुथल प्रलय कर सकती है। और तुम समुद्र

वैसी ही तो हो। समुद्र में भी कितने ही गुमराह हो जाते हैं, किन्तु दयामयी तुम तो सदियों से भावुकों के लिए अपने अन्तर का दिव्य द्वार खोले बैठी हो।

"तब क्या मैं यह सब कुछ निगल जाऊँ जो मेरी सतह पर है?"

सृष्टि-मेखला, मैं यह कब कहता हूँ! जो तुम्हारी लहरों को नहीं तोड़ते-मरोड़ते जो तुम्हारी सतह को नहीं झकझोरते, जो विश्व के गुमराहों को राह पर चलाते हैं और स्वार्थ के लिए अपने प्रकाशित मस्तकों को नीचा कर जो तुम्हारी रत्न-राशि को लूटने के लिए नीचे नहीं होते विश्व के उन प्रकाश-स्तम्भों को ठुकराने की बात मैं तुमसे कब कहता हूँ! वे तुम्हारी गोद की शोभा हैं। वे तुमसे निगले भी नहीं जा सकते।

"कौनसा यह व्यापार! पुण्य के शस्त्रों के वध करने का यह तुम्हारा कैसा हठ है!"

"विश्व की बाँसुरियों के सुर में मैं अपने सुर मिलाये रहती हूँ। श्रमितों को पता है कि मेरी लहरियों के दाम में उन्हें लिपटना, चिपटना, आलिंगन और चुम्बन प्रदान किया है और आज तुम रत्न-निमंत्रण लेकर आये हो।"

"जिस समय मैं अपने प्राण खोल तक खींच लूँगी, जिस समय मेरी तरल लहरें थपेड़े बनकर सतह की सीमा को ओछा-सीधा करने लगेंगी, उस समय जानते हो, वह फुरकी, वह सिसकी और वे प्रहार काबू से बाहर हो जायेंगे, स्वयं मेरे भी काबू से बाहर!"

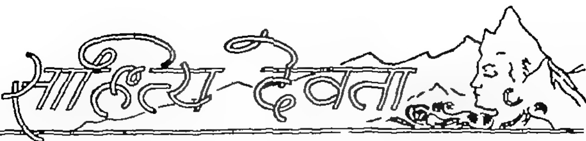
"उस समय जिस तरह करारी तलवार का वार जिरह-बख्तर पर तड़क कर उठता है, उसी तरह मेरी लहरों के प्रहारों से चट्टानें चिंघाड़ उठेंगी।

उस समय शान्ति का गर्व करनेवाला अन्धकार काँप उठेगा और अपने निरीश्वर-पूर्ण हृदय में ईश्वर के अनुराग का आरोप कर अभ्यर्थना करेगा—न हो, न हो यह अधिक समय तक।"

रात्रि रूपे की बूटेदार साड़ी पहने कान्तिकारिणि देवि, तुम्हारा स्वागत कर रही है। यह तुम्हारी उजल-भुवन में वैषम्य को भी सौभाग्य समझने के लिए प्रस्तुत है यदि पुनः प्रभात की आह्लाद किरण आकर तुम्हारे बन्दीखाने के द्वारों को खोले।

"ले लो, कोमलता से बनी मेरी सहस्र-सहस्र कर-मालायें अपने क्रूरतम रूप में समर्पित हैं। कलकण्ठी की होड़ लेनेवाला कलरव अघटन घटनासूचक कोलाहल के रूप में है। अब श्रद्धा भी गुमराह न कर पावेगी, धीरज भी डाका न डाल पावेगा। अब अपने चन्द्र जैसे प्रकाशित पुत्र की बलि के मूल्य पर भी उषा का स्वागत होने ही पर मैं अपने साख रखूँगी।"



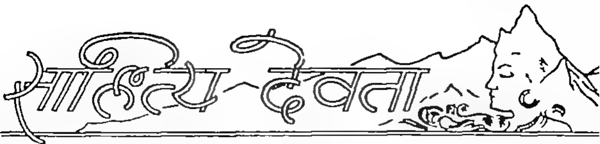


अँगुलियों की गिनती की पीढ़ी

साहित्य का उचित स्थान वह हृदय है, जिसमें पीढ़ियाँ और युग अपने विश्वास को धरोहर की तरह छिपा कर रख सकें। ऐसे हृदय ही में कला का उदय होता है। हम तो 'कुछ न' करने के आदी होते हैं, और 'न कुछ' को सम्पूर्ण मानकर उस पर गर्व करने लगते हैं, तब यही माप हमारी कला का भी क्यों न होगा? पुष्प की सुन्दरता और सुगन्ध से मतवाला हृदय उसके लता या वृक्ष की पूँछ-ताँछ करता है, और कला से प्रभावित भर आसक्त व्यक्ति उस जाति की पूँछ-ताँछ किया करता है जिसमें कलाकार ने जन्म लिया है। कागजों, दीवारों और पत्थरों पर तो सपने उतर आये हैं, उनकी आकृतियों और आकर्षणों ने वहाँ जन्म नहीं लिया। उनके जन्म-स्थल की यशोदा की गोद तो है,—हमारी कसमसाहट का बोझ सँभालनेवाली वह व्यथा, जिसकी सुलग से अनन्त जीवनों की एकत्र चिन्गारियाँ एकांत में उतर पड़ती हैं, और लोहे से या पत्थरों से बनी कलम को हिला देने पर किसी जाति का उल्लास, विलास, वेदना और बलिदान बनकर वह कागज पत्थर या दीवारों पर उतर आती है। उस समय कलाकार 'सोऽहमस्मि' कह उठता है। वेदान्त की रेतीली वाणी में नहीं। उसकी अपनी वाणी होती है—

' प्रेम गली अति साँकरी, या में दुइ न समाय।
'मैं' देखूँ तो 'प्यू' नहीं, 'प्यू' देखत 'मैं' नाँय॥"

किन्तु जो वेदान्त के सोऽहमस्मि के आडम्बर को सह जाते हैं, वे प्रिय के इस स्वरूप-दर्शन में कौन-सा दोष निकालते हैं।



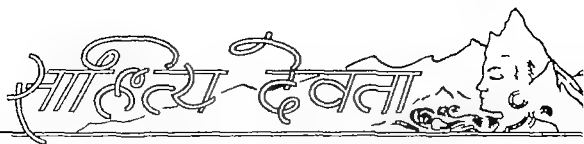
पुस्तकों में और उनके नियमों में जिस तरह प्रभु नहीं रहते किन्तु युग की सीमा-रेखा बननेवाले व्यक्तियों को देखकर—उनके चरणों के चिह्नों को ढूँढ़ ढूँढ़कर ग्रन्थों के नियमों का नियमन होता आया है; उसी तरह पत्थर, मिट्टी और कागज पर किये गये कौशल, कलाकारों का निर्माण नहीं किया करते; अपने अन्तर के 'मनमोहन' की चितवन ही, उन पदार्थों पर कलाकार ढाल जाते हैं।

चिड़ियों की चहक, पुष्पों की महँक, कलियों की मुसकराहट सतपुड़ा के शिखरों की बेजोड़ हरियाली होड़, और उस पर बेतवा नदी का कभी कंकण, कभी किंकिणि और कभी नूपुर बन जाना और नर्मदा या ताप्ती का कभी कण्ठहार, कभी करधनी और कभी त्रिपथ-पदी बन जाना और गंगा, यमुना, इरावती और सिन्धु का हिम-किरीट से निम्नगा सिद्ध होना ही वे स्थल हैं, जो कलाकार की संचित कोमलता को गुदगुदाकर, इन्द्र-धनुष के रंग उस पर चढ़ाते हैं; और अन्तर का पानी आँखों से उतरकर, सपनों को सजीव करने का द्रव्य प्रस्तुत कर देता है।

कलाकार हजारों वर्ष पुरानी ऐतिहासिक दूरी को अपने अन्तर की अपेक्षा से इसलिए नहीं छूते कि वे व्यास और वाल्मीकि का, होमर और अरस्तू का युग पुन निर्माण कर दमवाले विधाता बनना चाहते हैं।

"उतरे हुए समान को, जीवन में उतारने के कारण, हम उतरे हुए आमों की तरह, उतरा हुआ जीवन बना लेते हैं; और जब हमारी कला उतरी हुई पीढ़ियों का निर्माण कर देती है, जिसमें परिस्थिति की चपत मालाओं पर पड़ने का भय नहीं होता, तब हम सतह से बहुत नीचे की कक्षा में स्वयं बैठ कर भी अपने को सातवें आकाश पर अनुभव करते हैं और अपने द्वारा निर्मित होनेवाली पीढ़ी को नगण्य कहकर कोसने लगते हैं।

++ अँगुलियों की गिनती की पीढ़ी



किन्तु नवीन पीढ़ी तो युग के कलाकार के ही आकलन का अपराध है।

कलाकार तो भूतकाल को, गुनहले भूतकाल को भी, अपनी अन्तर की आँखों की कोरों से इसलिए छूता है कि वह शक्ति भर भूतकाल की गहराई माप कर अपनी आकांक्षा का एक माप बना ले और उसको उठाकर जब वह भविष्य की ओर रख दे और उससे कुछ आगे अपनी कला-बिन्दुओं की सीमा खींच दे तो विश्व में, युग से होड़ लेती हुई उसे अपनी एक अमर पीढ़ी दिखाई दे।

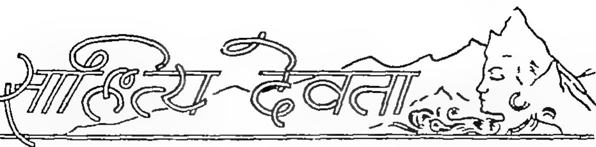
यदि इरादों पर पहुँचने में रेल के टिकट काम आ जाया करते, तो कला के स्वर्ग को हम पत्थरों और कथाओं से छू सकते थे।

स्वप्नों को पकड़ने का पथ तो अन्तरतर के स्वप्न-देश ही में से है।

हवाई जहाज़ पर चढ़कर जिस तरह हम हिमालय, विन्ध्या और सतपुड़ा की ऊँचाई निचाई से परे हो जाते हैं और उच्चता की एक-रसता में, एक-रसता की उच्चता की दुनियाँ में पहुँचकर, उसे पार करते होते हैं, उसी तरह जब हम अपने स्वप्नों के जागरण में होते हैं तब हम अपनी पीढ़ियों के ऐसे ही वायुयान बन जाया करते हैं।

कला की पीढ़ी अँगुलियों की गिनती पर होती है। गंगा से कृष्णा की दूरी ही की तरह एक तारीख की दूसरी तारीख से दूरी होती है, किन्तु उसके इरादों के 'अपनी पर आने' का सेतु बँध जाने पर, जमाना का-जमाना, इस पार से उस पार, और उस पार से इस पार होता रहता है।

उस कला का वाहन, कलाकार का विज्ञापन छिड़कने रहनेवाला शरीर नहीं है; न उसका वाहन विलास है, न उल्लास; न शिक्षक है न युवक।



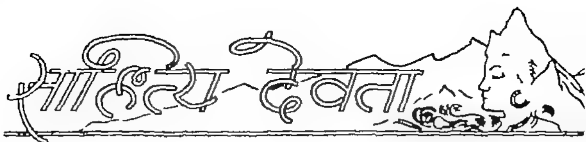
उसका साहस तो यह प्रेरणा है, जिस पर वह अपने सम्पूर्ण इरादों और क़दमों को लेकर बैठ जाती है, और तिस पर भी वह समय की दौड़ से आगे बढ़ जाया करती है। समय के साथ रहने पर तो सूरज और चाँद, अपने प्रकाश से उसे हराकर, बड़े सम्मान के अधिकारी हो जाते हैं।

इसलिए कलाकार राहगीर का समय काटने की वस्तु-मात्र नहीं होगा, वह समय का पथ प्रदर्शक, राहगीर होगा।

कलाकार कैसे जाने कि उसका आराध्य उसका अपना है! विश्व निर्माता ने उसे अपनाया है! निर्माता की तान में अपनी तान मिला जाने की पहिचान तो यही है न, कि भक्त-भावन की तरह भक्त भी निर्माता हो। तभी तो मानव दम्भ की कुटिलता और भ्रमों की जटिलता से परे, 'सोऽहमस्मि' के कुछ मानी रह जायेंगे।

निर्माण जिसका बचपन हो, निर्माण जिसका अध्ययन, निर्माण जिसका चिन्तन हो, निर्माण जिसकी कमाई, और निर्माण ही जिसका औदार्य, शान्ति और आनन्द हो, विषाद और विनोद हो, तब निर्माण ही उसकी चिरसमाधि क्यों न हो! उसे निर्माण की समाधि न कहेंगे, वह तो पंचतत्व का ग्रास होकर भी, समाधि के द्वारा, पीढ़ियों में, प्रेरणा के रूप में जीवित रहनेवाला निर्माण ही कहा जायेगा; निर्माता की जिम्मेदारी पूरी करनेवाला, निर्माता की वह अपनी चीज़ होगा।

रोज़ उत्थान के अभाव और पतन की पराकाष्ठा से भरा जानेवाला हमारा पेट, जीवन के प्रस्फुटीकरण की भूख अनुभव ही नहीं करता। किन्तु जो इस भूख को अनुभव करते हैं, उनका एकदम, अस्तित्व की वसना है और उनकी निकम्मी घड़ियाँ कला के अस्तित्व का परिपाक है।

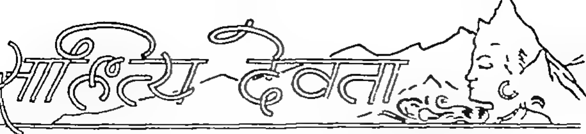


फ़ुरसत की घड़ियाँ कुछ लोगों की सनक की घड़ियाँ हैं, कुछ लोगों की आवारगी की घड़ियाँ, कुछ लोगों की काहिली की घड़ियाँ हैं और कुछ लोगों की नाश की भी घड़ियाँ हैं। फ़ुरसत की घड़ियाँ, और वैसी ही फ़ुरसत की घड़ियाँ कला के अस्तित्व की घड़ियाँ हैं, कला के विकास की घड़ियाँ हैं, कला के विस्तार की घड़ियाँ हैं। यहाँ कला पुरुषार्थवती होती है, और पुरुषार्थ कला के चित्रों का रंग बन जाता है।

दौड़-धूप के देवताओ, कहीं इन 'निकम्मों' को भी जीने दो। रेलगाड़ी के पथिको, संकल्पों के आने-जाने के लिए भी थोड़ी ज़मीन छोड़ो।

'बे फ़ुरसत' की ज़िन्दगी में, कलाकार, विश्व को देखने, देखते रहने, और देखते-देखते गुम देखते रहने के लिए आँखों और आडम्बरों से बाँध कर रक्खा जाता है। उस समय अपने को और अपनेपन को देखने का अपने को नहलाने और सुहलाने का वह अवसर ही नहीं पाता। फ़ुरसत की घड़ियाँ, कलाकार के अस्तित्व की आराधना हैं, आराध्य की पूजा है, आत्मरूप की अभ्यर्थना है। वे उसके आत्म-संकीर्तन की नहीं, विश्व-संकीर्तन के लिए आत्म-दर्शन की घड़ियाँ हैं। उस समय उसकी खुली आँखें मुँदे जगत् की गुत्थियाँ सुलझाया करती हैं; और मुँदी आँखें, खुले जगत् में विश्व के परम सत्य का रंग भरती रहती हैं।

उस समय वे आँखें जिस लोक को देखती हैं, उस लोक में उस कलाकार और उसकी कला को भी देखती हैं। उसकी सेवा और उसकी तैयारी को भी देखती हैं। उसकी कमज़ोरियों और उसके पतन को भी देखती हैं। वह अपने उत्थान से, उत्थान के शेष रहे हुए पथ की दूरी देखकर, अपनी नम्रता और अपने धीरज को समेटता रहता है, और अपने पतन को



देखकर उत्थान की क़रारी छलाँग मारने के लिए, पंखों की आत्मा से, बल की प्रार्थना किया करता है।

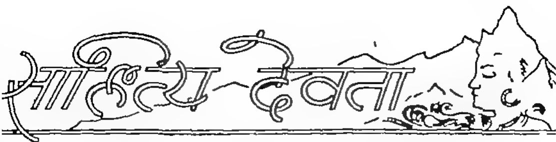
एकान्त जीवन का अवकाश कलाकार का वह मन्दिर है, जहाँ वह अपने को 'अकर्मण्य-कर्मण्यता' के नास्तिक बन्दी-गृह से बाहर निकालता है, और भावनाओं की मूरत बनाता है, चिन्तन पर रंग चढ़ाता है और इस तरह अपने मूक वैभव को क़लम पर उतारकर विश्व में भेजता है, कि जिसे देखकर दुनियाँ की शत-शत सूझें वाचाल हो उठें।

भला, ऐसे समय यह कैसे माना जावे कि कला का अनुवाद भी होता है, उसकी नक़ल भी उतारी जा सकती है। इच्छाओं के आदर्श का अनुवाद! आदर्श की इच्छाओं की नक़ल!

कलाकार का जीवन द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत की अनुभूति होता है।

जब कलाकार अपने अनन्त-चिन्तन में उतरा होता है, तब वह कला पिता के जोखिम भरे उल्लास से आभूषित और कल्पना-माता के प्राण-मय बोझ से बोझीला होता है। किन्तु जब उसका चिन्तन उसकी क़लम पर उतर आता है, तब वह अपना ही कला-पुत्र होकर विश्व के अन्तरतर की सुकोमल गोदों में खेलता रहता है।

चाह की तीव्रता और चिन्तन का माधुर्य, ये दोनों ही तो वैज्ञानिक संघर्षण की वस्तुएँ हैं, जिनसे चटख पड़नेवाले प्रकाश को अपने भिन्न-भिन्न रंगों के रस से गीला कर, अस्तित्व की अँगुलियों के द्वारा, विविधता के पत्रक पर, कलाकार, विश्वनियंता की, अपने मनमोहन की, कोई तसवीर खींचा करता है। जिसका आराध्य हर चीज़ में हो और पहुँच की तीव्रता



के माप से यह अपना हो, तो कलाकार की आँखों और अन्तर के अँधेरे के लिए, प्रकृति का सारा वैभव और खतरों का समस्त भंडार, कलाकार के अँधेरे के लिए अपने अन्तर का द्वार क्यों न खोल दे ?

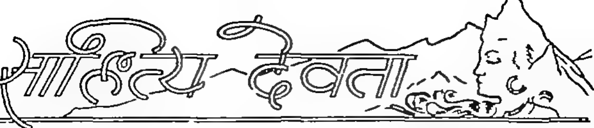
कलाकार की अँगुलियों की अस्पष्ट लिखावटों तक में एक मनुहार, एक अभीप्सा, एक वेदना, एक झाँकी और एक बेबसी होती है। वहाँ, उस अस्पष्टीकरण के समय उसकी अँगुलियाँ उसे अपने आराध्य से कहीं अधिक मीठी मालूम होने लगती हैं।

किस गोद के लिए कला दौड़ी जाती है ? उन आँखों के लिए जो कल्प कला की ममता और ममता की कल्पकता का अनुभूति के माप से अन्दाजा लगा सकें। उस जानकारी की गोद पर, जो कला की आकृति और प्रेरणा को, मुँदी आँखों से देखकर शिल्पी के खुले हृदय का आकलन कर सके और खुली आँखों से देखकर, स्मृति को विस्मृति के हवाले कर, कलाकार की वस्तु में समा सके।

कलाकार क्या है ? वह अपने युग की स्फूर्ति के मधुरस के रंग में डूबी भगवान् की प्राणवान् प्रेरक और प्रकाशक कूँची है।

उसके स्वरों में रंग होते हैं, उसके रंगों में स्वर होते हैं। उसके चित्रण की आत्मा सजीव होती है। मंचों पर दिखाये जानेवाले नाटकों की तरह उसे समझने के लिए, खास पढ़े-लिखों की अड़चन ही की जरूरत नहीं होती। जिन्हें स्वप्न समझने की सुधि है, उनके पास कला का मूल्य है। जो मुसकुराहट और बेचैनी को समझ सकते हैं, वे कलाकार को समझ सकते हैं। जो जीवन और मृत्यु को समझा करते हैं, वे उस समय कलाकार की भाषा को पढ़ा करते हैं।

जिन्हें देखकर कलाकार अपने आँसुओं और उल्लासों को चित्रित किया करता है, वे चाहे कल्पना के सत्य हों, पर कलाकार के लिए वे सत्य की कल्पना हैं। उन घड़ियों का संचय ही, कलाकार का सम्पूर्ण जीवन है।



छलकन गगरी

तुम सु-वर्ण पर ललचे न थे। बाजार दर की ऊँचाई ही इसका कारण न था तुम्हें तो ठंडे पानी की चाह थी। मिट्टी की गगरी इसीलिए तो लाये। सावधान रहो, नहीं तो इसमें दरार पड़ जायगी। इसकी दरारें जुड़ा नहीं करतीं।

*   *   *

पर यह क्या आफ़त है। इसकी छमक से तुम्हारा अम्बर भीग गया है। वायु थरथराहट देकर अपने अभिमत से विस्तृत किये दे रही है। और छलकन की आवाज से, धीमे-धीमे बोलनेवाले, आराध्य की ध्वनि, तुम्हारे कानों तक नहीं पहुँच पाती। क्या गगरी का मुँह बन्द कर दिया जाय? पर, स्वर-में-स्वर मिलने की विस्मृति में, जब तुम्हारा मस्तक झुक पड़ेगा, तब पथरीला कठिन प्रियतम के चरणों पर फिसल पड़ने का भय नहीं है?—तब फिर? हाय, गगरी कच्ची हुआ है,—कहो कहाँ से खरीद लाया? दो दमड़ी की चीज़! उथली, कलूटी, दर-दर पर लुढ़कनेवाली, छूते ही भद्दन और इतराते ही टूक-टूक!!

*   *   *

क्या सचमुच?

और यह धीम, जो गगरी को घेर रही है, किन मुहरों के मोल खरीदी थी? क्या इसके छूते ही भद्दन का भए, तुम्हारे सतीत्व के आडम्बर

से कम उज्ज्वलतर है। और क्या साँवलापन ही इसका सबसे बड़ा अपराध है। क्या इसी अपराध की अपराधिन पुतलियों में सुइयाँ छेद दोगे। क्या वह इतनी ओछी है। क्या इसमें समानेवाली जल की अँगुलियों की अपेक्षा, तुम्हारे हृदय की मटकी में आँसुओं की अधिक अँगुलियाँ समाती हैं,—क्या तुम्हारी आँखों के परदे के नीचे, इसकी अपेक्षा अधिक बूँदें हैं,—मिठासवाली।

* * *

और तुम चिढ़ किसलिए पड़े।
छलकने से।
किसपर।
गगरी पर।
क्या छलकने के अपराध का उत्तरदायित्व उस पर है।

* * *

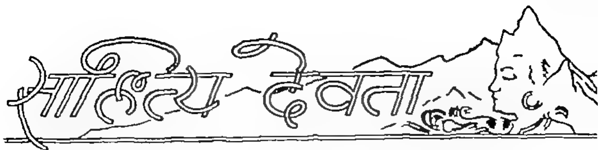
क्या जिस कुएँ से इसे भर कर लाये, गहरा था।

क्या तुम्हारे गुन कमजोर न थे। उनमें बल था कि वे जल का बोझ सम्हाल कर, कुएँ का तरल अन्तःकरण खींच लाते।

क्या खींचते समय तुम हाँफ नहीं गये।

तब गगरी अपने आप कैसे भरी आती।

और जब तुम्हारे गुन, भरी गगरी खींच न सके, तब गगरी अचपल न रहती तो क्या करती।



क्या तुम्हारी यह चाह है कि वह अधजल भले ही रहे, पर झलके नहीं ?

* * *

और छेद दमड़ी की इस गरीबिन का क्या कोई स्थान नहीं ? ग्रीष्म में जब तुम्हारे मस्तक पर चन्दन चर्चित होता है, जब तुम्हारे उरा के पदों पर गुलाब की सींच होती है, जब तुम्हारे चन्दन में कपूर लहर लेता है, जब तुम्हारी सारी देह बर्फ पड़े हुए हौज में किलोल करती होती है और बिजली का पंखा घूम-घूम सारी बर्फीली वायु बटोर कर, तुम्हारे सिर दे मारता है और थरथराहट पैदा कर देता है उस समय तुम्हारे अन्तःकरण में आग कौन लगा देता है ? क्यों तुम, गिरफ्तार शीत की गोद से भी 'पानी पानी' की पुकार मचा बैठते हो ? आह ! क्या तुम उस छेद दमड़ी की उपेक्षा कर, सुहर की मनुहार करोगे ? क्या उस आग को,—तुम्हारी प्यास को—गुलाब का सुगन्धित रस बुझा सकेगा ? कपूर की बरसात कम कर सकेगी ?

* * *

अरे,—और, तुम्हारे भीजने, थरथराने, और प्रियतम की बातों की मिठास में, झलकन की ध्वनि के विष डालने ही तक तो बात नहीं है। आधी रात में जब समर्पण के जागरण में, पानी-पर-पानी की माँग होगी, तब अधजल गगरी का तो तुम दोनों दिवाला काढ़ बैठोगे ? क्या आराध्य को पानी के लिए तड़पाने का अपराध इस अधजल गगरी ही का होगा ? क्या नहीं जानते कि गगरी झलक-झलक कर तुम्हें भिजो रही, तुम्हें थरथरा रही

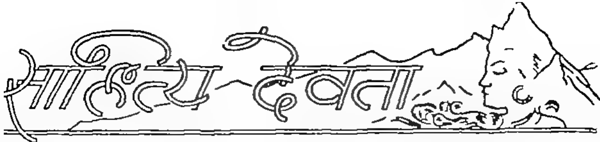
साहित्य-देवता

और तुम्हारे प्रणय-संवाद में चिर जानकर चीख रही है कि मजबूत गुन ले, गहरे कुएँ में फिर से डुबोकर, मुझ 'अमजल' को पूरी भर ले; सुमरन-सी क्रूर नहीं, हृदय-सी भावुक है। सँभाल कर, पथरीले कूप के तरल अन्तःकरण से भर ले।

* * *

सिंहासन और मुकुट, तीर और तोप, विजय और वरदान, किरीट और कौपीन, शस्त्र और शास्त्र, जिससे यह डेढ़ दमड़ी की वस्तु त्यागी गई! पथिक, इसे भर के छलकने न दे। इसकी छलक के दिखाने में पीढ़ियाँ बरबाद होती आई हैं।





शस्त्रक्रिया

मृदंगवादक—

तुम कितने मधुर बोलते हो मृदंग! कितने मस्तक तुम्हारी मस्तानी धुमक पर नहीं घूम उठते!

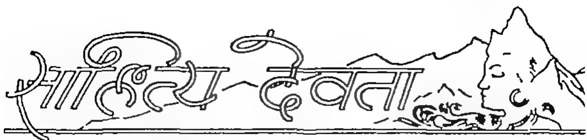
पर मेरा दुर्भाग्य देखो। अधिकारी की आज्ञा है कि मैं तुम्हारे बदन को चारों ओर से चारों ओर डाकुओं की तरह बाँध दूँ।

जब लोग तुम्हारे स्वर पर मस्त होने के लिए अपने आपको तैयार बनाते हैं; तब मैं तुम्हारे बन्धनों को कस-कसकर खींचने लगता हूँ।

और यह जानकर भी कि मेरी अँगुली मारते ही तुम चीख उठते हो, मैं तुम पर प्रहार-पर प्रहार करता चला जाता हूँ।

क्या कहा—मैं निर्दय हूँ? मेरे प्रहारों से तुम्हारी नजर में मेरा मूल्य भले घट जाय, किन्तु 'मीर-ध्वनि' में विश्व में तुम्हारा मूल्य घटा देखकर जीवित नहीं रह सकूँगा। मैं यह जानता हूँ कि तुम पर कम गुन, तानकर खींच दूँगा, तो तुम्हें स्वर-समाधि देने का पाप मुझे लगेगा। फिर तो, राजरानी की स्वर-लहरों पर चढ़कर, समाधिस्थ होने का सारा व्यापार ही बिगड़ जायगा। तुम्हारी चिर-समाधि का प्रबन्ध जब मैं रचूँ, तब मैं शस्त्रधारी नहीं रहता; हत्यारा हो जाता हूँ। किन्तु यदि तुम्हारे गुनों को, तुम्हारे शिरा बन्धनों को ढीला छोड़ देता हूँ, तो तुम्हें अस्तित्व रखकर अस्तित्व में रखने वाला बना देता हूँ।

ढीली-डोरों में सेहत? यह तो तुम्हारे गौरव के खिलाफ, तुम्हारी क्रिया शीलता के खिलाफ, तुम्हारी महत्ता के खिलाफ, साधकर सजाये हुए मौन



का नाम लेकर किया हुआ विद्रोह है। कैसे-तने तुम्हारे मस्ताने जीवन पर शस्त्र चलाऊँ!—सो मैं अपनी कार्यसहीनता प्रकट करूँगा।

तब लाओ, मैं एक छुरा उठाऊँ। लोहे का बना हो, चाहे चाँदी का, चाहे घास का,—उठाऊँ, और सारे ढीले और सड़े बन्धन काटकर फेंक दूँ।

बस फिर, जिन बन्धनों से स्वर छूटेगा, जिन स्वरों पर बन्धन बँधेंगे, उनकी तान कितने ही हृदयों पर थिरक उठेगी। और जब 'अहीर की छोहरियाँ' प्रभात-बेला में, तुम्हारी तान पर कुरबान, श्यामसुन्दर से रार ठानने आवेंगी, तब श्यामसुन्दर, ब्रजेश्वरी के आँगन में बैठकर विश्वविमोहिनी बाँसुरी बजाकर तुम्हारे—हाँ तुम्हारे स्वर में स्वर मिला देंगे।

तुम्हें ब्रजेश्वरी ने अपने स्वर से स्वर मिलाने का सौभाग्य प्रदान किया है, किन्तु मेरे हाथ में दण्ड-विधान सौंपा है, और उनके स्वर का रुख रखकर, तुम पर प्रहार किये जाने की आज्ञा दी है। बोलो, तुम पर हिमायत कर, तुम्हारे गौरव के खिलाफ़ ग़दर करूँ, या तुम्हारे गौरव की तरुणाई में शत शत मस्तकों के साथ, मैं भी तुम्हारे स्वर पर झुक जाऊँ!

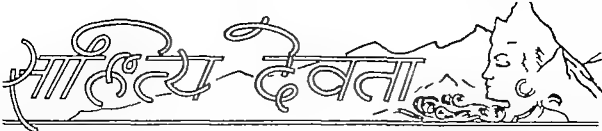
प्यारे, मैं अपराधी हूँ। मैं प्रहारी हूँ, अत्याचारी हूँ, शस्त्रधारी हूँ। मैं तुम्हारे कमज़ोर बन्धनों को काट देता हूँ, उन्हें सख़्त, तने हुए, बना देता हूँ।

२

कृषक—

घन घिरकर आये हैं। कैसे बरसते हैं—रिमझिम, रिमझिम। क्या ये कृषकों की वेदना पर बरसने आये हैं?

'हरी हरी' पुकार कर, कृषकों ने 'त्राहि' मचा रखी थी; ये श्यामसुन्दर



आये और कृषकों की शस्य-श्यामलता 'हरी-हरी' कर दी। ये काले बूँदें उजली, और भूमि हरी। युधिष्ठिर के किस नियम से यह पहेली सुलझाये सुलझे।

यह देखो इस तरफ उस तरफ आगे पीछे दायें बायें केवल हरी-हरी की धुन मच गई है।

और यह लो मैं उठा। मैं तो इस बेजोड़ हरियालेपन का संहार करूँगा। क्या तुम यह कहोगे कि मुझे अमृत-बिन्दुओं से प्यार नहीं, हरीतिमा से दुलार नहीं।

आराध्य तुम जो कुछ देते हो उसका अन्त नहीं रहने देते। तुम्हारे सहस्र-सहस्र करों से बाँटी हुई खैरात दो हाथवाले के तराजू की जय हो।

तुम देते कहाँ हो, तुम तो बरस पड़ते हो। इसीलिए प्रकृति तुम्हारी देन को लेकर देखो किस तरह नदियों नालों सरोवरों और सागरों में बाँट रही है। वह जरूरत का अमृत भूमि पर रहने देकर तुम्हारी अपार कृपा का भण्डार तुम्हें क्षीर-समुद्र में वापस कर देती है। प्रकृति को पानी वापस करते देख, मुझे भी अपना कर्तव्य सूझ उठता है। मैं भी हल उठाता हूँ और सारी हरियाली तोड़ डालता हूँ। नन्हे बच्चे खीझ उठते हैं कि मैंने उनका हरा गलीचा तोड़ डाला, हरी दुनिया बिगाड़ डाली। किन्तु मेरी कुटिया की रानी, मेरी झोंपड़ी की परमेश्वरी जानती है कि माँ वसुन्धरा के पेट में ही सती सीता का निवास है। वह मुझसे कहती है कि, पेट पर पट्टी बाँध-बाँधकर, हमने विश्वम्भर के दिये हुए जो अन्नकण, या खाने के मोती, बचाकर रखे हैं, उन्हें विश्वम्भरा का पेट चीरकर, सुरक्षित रख दो।

मातृ-शक्ति कई गुना करके हमें लौटा देगी। विश्व-रक्षा के लिए, विश्वंभरी के पेट का दूध, वृक्षों के कन्द-मूल फल ही से बहता है।

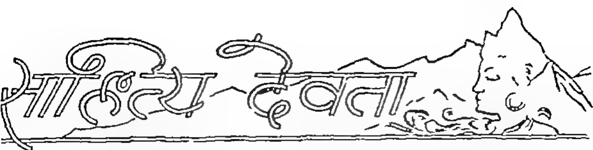
मैं घातक! हल उठाया, और पृथ्वी का पेट चीर डाला। और यह लो 'सादे, शाहज़ादे' कपास के पौधे उग आये। पर मैं फिर भी नहीं ठहरा। मैंने खुरपी उठाई और कपास के साथी-संगियों का संहार कर डाला। राजद्रोह की सज़ा पाये हुए 'ए' क्लास के क़ैदी की तरह वे तूल-तत्पर अकेले रह गये। हरियास भरी आँखों ने कोसा—निष्ठुर, सारी हरियाली बिगाड़ दी। कपास के पौधे भी चीख उठे; उनकी जड़ें भी तो धक्का खा गई थीं। वर्षा, शीत, घाम बर्दाश्त करने के लिए उतारू, सन्तों-सा उजला कलेजा लिये रहनेवाले 'गुणों' के पिता तथा अपने गुणों से, दुश्शासनों से, चीरहा पांचालियों की लज्जा बचानेवाले, कपास को तो मैंने दुःख न दिया होता। परन्तु, मेरे प्रहार उनकी परख-सीमा थी। मैंने अपने प्रयत्नों को माटी में मिलाया और कपास के आसपास खुरपी का शस्त्र चलाया। अहा, शस्त्रों की वही प्रहार-डेरी, शस्त्रों की प्यार-डेरी बन गई।

नाथ मुझे तो तुमने शस्त्रधारी होने का शाप दिया है, न जाने क्यों!

३

मालाकार—

कैसी बढ़िया फुलवारी है। गुलाब है, चमेली है मधुमालती है—गरीब हरसिंगार भी है। दूर से वन भाता दीखता है, सुगन्धों की आशा का उदय कर देता है। निकट आने पर, सुगन्ध लहराने लगती है। किन्तु यह मन्दन कुछ अनोखा है। यहाँ, अपने को व्यक्ति पा गये हैं—

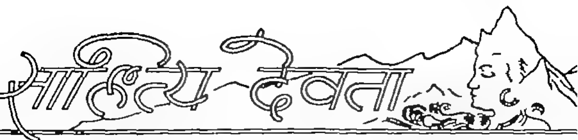


बसाने की जमीन पर। भीतर पाठक के शब्द उधार लूँ तो यथार्थ में 'यहि अमरन को ओकु' और 'यहीं कहूँ रहत पुरन्दर'। वाल्मीकि से लगाकर तुलसीदास तक और राम से लगाकर छत्रपति शिवाजी और राणा प्रताप तक सब यहीं रहते हैं। व्यास यहीं हैं, वाल्मीकि यहीं हैं, कपिल यहीं हैं, कणाद यहीं हैं राम यहीं हैं परशुराम यहीं हैं, बुद्ध यहीं हैं, महावीर यहीं हैं रघु यहीं हैं, दिलीप यहीं हैं कृष्ण यहीं हैं, विदुर यहीं हैं नारद यहीं हैं सरस्वती यहीं हैं, सीता यहीं हैं, द्रौपदी यहीं हैं, प्रताप यहीं हैं, शिवाजी यहीं हैं, छत्रसाल यहीं हैं, अकबर यहीं हैं, कबीर यहीं हैं, मीरा यहीं हैं सूर यहीं हैं, चैतन्य यहीं हैं, रामतीर्थ यहीं हैं, तुकाराम यहीं हैं, रामदास यहीं हैं। इस जमीन का एक तह भी उखाड़ा कि अनेक मनस्वी उठकर बातें करने लगेंगे। इनकी हड्डियों पर हम नन्दन बनाते चल रहे हैं।

मेरे नन्दन के खण्डहर उखाड़ने तो विश्व के बहुत-से लोग आते हैं; वे पत्थरों की चट्टों से कलाबूँसी करते हैं और गड़े हुए ताम्रपत्रों की पूजा करते हैं, किन्तु आज के मेरे नन्दन की ओर वे आँख उठाकर भी नहीं देखते।

रूस, इँग्लैंड, फ्रांस, डेनमार्क और अब जापान आदि ने, अपने साहित्यिक भाईचारे की भेंट का मेला लगा रक्खा है। किन्तु जयशंकर प्रसाद और निहालसिंह को छोड़ दें, तो मेरे नन्दन की ओर कोई देखता ही नहीं।

मेरे नन्दन के फूल, विश्व की हाट में हाथ नहीं लग पाते। इन पर भौंरे घूम लेते हैं और वे थोड़े-से फूल भी लाते हैं; किन्तु विश्व की आवश्यकता और चाह का आधार मेरा आज का नन्दन नहीं बन पाता। तिस पर भी



क्या तुम कहते हो कि मैं छुरा हाथ में न लूँ ! अपने कुदाली-फावड़े न सँभालूँ !

ना, मैं नहीं मानूँगा ! देव ! तुम्हारे चरणों पर चढ़ाये जाने के लिए, जब मेरे बाग़ के फूल स्वीकृत ही नहीं किये जाते, तब बाग़ के इन बोझों को मैं बाग़ में रहने दूँ !

ना मैं हरियाली का हत्यारा कहलाकर भी बाग़ की सब हरियाली अपने बाग़ से खोद बहाऊँगा ! मानूँगा नहीं !

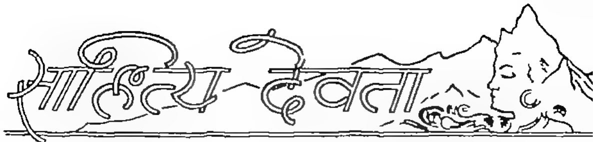
मैं अपने हौसलों और गोरखधुओं को मिट्टी में मिला दूँगा किन्तु हर पौधे का सम्पूर्ण रूप से जननी पर आने के लिए बाध्य करूँगा ! जो मिट्टी में मिले 'दाने' परिपूर्ण तारुण्य की उभार में न आजायें उनकी डालियाँ काट-छाटकर इसी नन्दन की खाद बना दूँगा ! मैं तो इस बाग़ की रसा में रस लाने के लिए अपनी हड्डियों की खाद दे दूँगा, इस बाग़ के दाड़िम में दर्द का-सा स्वाद उत्पन्न करने के लिए युग की अरुणिमा तक की खाद दूँगा !

तुम इस समय मुझे रोकते हो ! नन्हे बच्चे गालियाँ दें कि उनके खिलौने मैंने मिटा दिये, परन्तु मैं उन गालियों के भय से छुरा रख दूँ !

जिसकी आँखों में माली का हत्यारा-गुलाब झूल रहा है वह कीड़े लगे गुलाब की कानी कलीवाली डालियों पर ममता कैसे करे !

नन्द-नन्दन ! जब तक मेरे अमरूदों का अमृत जमनी पर न आवे जब तक मेरे गुलाबों का गरब पंखड़ियों की जवानी की चोटों पर झूल-झूल कर इजहार न करने लगे तब तक मेरा छुरा मुझसे कोई दूर हटा ले !— अभी मैं किसको मारूँ !

श्यामघन ! तुम्हारे बरसने के पहिले मैं हरियाली की अमरता और मस्ती



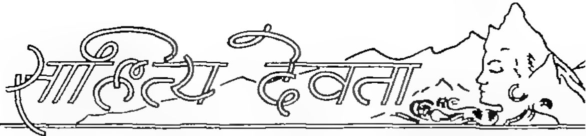
के खिलाफ, परम्परा से चिपककर, पतन के विद्रोह के खिलाफ विद्रोह पर झुकी हुई, सब डालियों को एक-एक कर काट डालूँगा। उनके आस पास काँटे ही गाड़ूँगा; उनकी जड़ों पर कीचड़ ही डालूँगा, उन्हें सूरज में झुलसने के लिए खुला छोड़ दूँगा। मैं नन्दन का हत्यारा नहीं, माली हूँ। मेरा नन्दन मुझे नन्द-नन्दन से भी अधिक प्यारा है। मैं पत्तियों के साथ लहराता हूँ, कलियों के साथ चटखता हूँ, फूलों के साथ खिलता हूँ, हवा के साथ मेरा मस्तक झुक पड़ता है, उष्णता के साथ मेरी साथ कुम्हला जाती है और ओस-कणों के साथ मेरी आँखों में भी आँसू आकर मेरे बाग के पौदों के उभार के आनन्द का भार बनते हैं। हत्यारा, नन्दन-नाशक, मुझे उस दिन कहना, जिस दिन मैं, अपनी कैंची फेंक दूँ, चाकू तोड़ डालूँ, कुदाली बिगाड़ दूँ, और फावड़ा हटा दूँ। उस दिन निस्सन्देह अपने नन्दन को, बीहड़ जंगल बनाने का अपराधी अवश्य हूँगा।

प्यारे अमर, मैं संहार नहीं मुझे तो मेरे प्रभु ने, आकारधर होने का शाप दिया है। मुझे जिन्दगी भर वही बने रहना है।

४

उपचारक—

कैसा सुन्दर शरीर है, कैसी उपभोगी देह है। रसों की शब्द-क्रिया करनेवालों ने, इस बेचारे पर, नायक और नायिका-भेद के कितने वितान नहीं ताने। चन्द्र-वदन, पिक-वयन, कंज-नयन, शुक-नासा, ग़रज़ यह कि अकेली देह पर कितना तमाशा नहीं खड़ा किया। हमारे आकर्षण का मेल, कवियों के शब्दों के खेल में, जब ठीक बैठता है, तब हम बेचारे शरीर पर, न जाने किस-किस महानता का आरोप करने लगते हैं।



किन्तु जब शरीर की आँतों में कोई रोग हो जाता है जब बदन में कहीं फोड़ा हो जाता है, तब ?

यदि मैं तुमसे प्यार करूँ तो तुम्हारे फोड़े से नहीं कर सकता। क्या तुम्हारे घातक से ममता करके, तुम्हारे अस्तित्व से हाथ धोऊँ ?

ऐसे समय, छुरा हाथ में रखकर, मैं तुम्हारी मर्जी पर मस्तक झुकाऊँ या तुम्हारे अस्तित्व को मस्तक झुकाकर तुम्हारी कमजोर घड़ियों की चाह और कराह का भान भूल जाऊँ ? यही समय होता है, जब मुझे रोग और उसके उपचार पर अपना निश्चित मत बनाना होता है।

और मेरे छुरे लिये हुए अस्तित्व का नाम है, प्राण-रक्षा के लिए अपने को खतरे में डालने में न हिचकिचानेवाली निर्णय-शक्ति, और कर्तव्य प्रतिमा। जब विश्व का विधान, आनन्द और अस्पष्टता होता है, मेरा विधान होता है, उचित निर्णय और उसका साहसपूर्वक वर्णन। यही साहसपूर्वक उसे क्रिया में उतारना। तभी मैं हजारों के प्राणों के साथ खिलवाड़ करने का हक रखता हूँ।

यदि ऐसा न करूँ तो मैं वधिक हो जाऊँ। मैंने कसाईखाना नहीं खोला, मैंने प्राण प्रदाता गौरव-मन्दिर खोला है।

देवता और दानव, सब अपना अस्तित्व लिये मेरे पास अपने असल रूप में रहते हैं। यह सच है कि सदा ही मेरे हाथ रक्त से रँगे होते हैं, मेरे कपड़ों पर दुर्गन्धित द्रव्य पड़ा होता है, कभी-कभी मुझे भी रोग के कीटाणु लग जाते हैं।

हाँ यह भी सच है कि जब मेरा छुरा कोई हत्यारा उठाता है, तो वह ईसा को सूली चढ़ा देता है, मन्सूर को फाँसी दे देता है और मीरा को

विष का प्याला पिलाता है। किन्तु जब मेरा छुरा मेरे हाथ में होता है तब तो प्राण-सञ्चार ही होता है। क्योंकि मैं हत्यारा नहीं हूँ, मुझे तो युग के प्रभु ने केवल शल्य-क्रिया सौंपी है।

हाँ, जब मैं अपने कर्तव्य में बदला, घृणा, संकीर्णता, तुच्छता ले आता हूँ, तब मानो मैं अपने इस पतन से घोषित करता हूँ कि मैं हत्यारा हूँ। मेरी विवेक की आँखें फूट गई हैं, मेरे प्राण, प्राण-रक्षण के बजाय रक्त पान के लिए उतावले हो गये हैं। उस समय मैं, प्लेग के कीड़े से अधिक भयंकर, और विष-बुझी कटार से अधिक घातक हूँ। मैं ऐसा नहीं हो सकूँगा। मुझे प्रभु ने प्राण-रक्षा सौंपी है। इसीलिए मैं शल्य-क्रिया किया करता हूँ। समाज के पेट में साहित्य के जीवन में और राजनीति के मस्तिष्क में, हर जगह, मेरा छुरा, बराबर चलता होता है, मेरे आँसू बराबर बहते होते हैं।



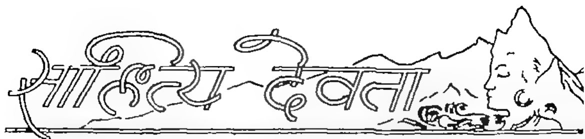
"क्या करोगे पढ़ कर ! 'सौदामिनी' का लेखक बनने की मेरे मन में इच्छा जाग्रत् हुई। मैंने अपने नगर का सुन्दर वर्णन लिखकर भेजा। संपादक उसे पचा गया। मैं समझा, शायद संपादकों को यह नहीं रुचता। मगर की उदासीनता छोड़कर मैंने जंगलों में कितने ही जमरूदों के तोते उड़ाये। गगन के स्वर में गिरवरों का भैरवी-गान लिखा। रमणीय झाड़ियों को कानपुर के सोकमन मुहाल की गलियों से उपमा दी। श्मशान को विश्व के विनोद और संतप्त-हृदय की सेहत का साधन बताया। और, एकान्त को रात्रि के सन्नाटे-सा लिखकर भेजा। पर सब व्यर्थ ! 'राष्ट्रीय-वीणा' के संपादक जी ने हफ्ता पूरा होने के पहले ही मेरा लेख मेरे पास वापस भेज दिया—ज्यों-का-त्यों। केवल लिफ़ाफ़ा उनका अपना था।"

पहली आशायें और साधनायें मन्दी होती हैं। वे संभावनाओं के घोड़ों पर नहीं बैठ पातीं। क्या यही—

"—सो बात नहीं। संपादक कोमल लेखकों की आशाओं और साधनाओं का शिकारी होता है। जानते हो, मेरी उस समय क्या हालत थी।"

आपकी हालत ! पुरुषार्थ को संचित कर मातृ-भाषा और उसके द्वारा मातृ-भूमि की अधिक सेवा होने के लिए—जिस तरह वृक्ष अपनी सुगंध के लिए कुछ रस जमीन से और कुछ आसपास बहनेवाली हवा में से खींचता है, उसी तरह—आपने कुछ अपनी बुद्धि से और कुछ अध्ययन से अपने को परिष्कृत कर साहित्य-सेवा करना तय किया होगा।

— "ना, यह बात नहीं। संपादकों की उदासीनता से मेरा मन साहित्य-सेवा के परम हेतु से खिसककर कुछ समय के लिए हेतु-शून्य हो गया। उस समय



महत्त्वाकांक्षा की राख

क्या आपने कभी लिखा ही नहीं ?

" आलोचना के सिवा । "

कुछ भी नहीं ? कभी भी नहीं ?

" कभी-कभी, कुछ-कुछ, बहुत दिनों पहले । "

तब आपके लेखन की जन्म-तिथि कौन-सी है और समालोचन की कौन-सी ?

" लिखने की तुली-इच्छा को दफनाने के दिन को ही समालोचन के मंगल प्रभात बनने का गौरव प्राप्त है । "

तब तो लेखक के यमराज ही को समालोचक का बड़ा मानना पड़ेगा ।

" ना, ऐसी बात नहीं है । कुछ लोग निरा पत्थर पूजते हैं । मैं अपनी टाँकी से एक मूर्ति बनाता हूँ और फिर उसको पूजता हूँ । "

२

आपने लेखन को दफनाने की आवश्यकता क्यों समझी ?

" चोरों की दुनिया में अधिक दिन रहना ठीक न समझा । "

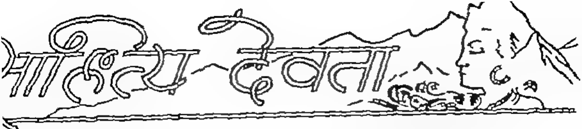
और यदि रहना पड़ता ?

"—तो चोर बनकर ।"

क्या आप यह अपनी निश्चित राय दे रहे हैं ?

" बिलकुल निश्चित । "

इस अनुभव की पुस्तिका के कुछ पन्ने क्या मैं पढ़ सकता हूँ ?



"क्या करोगे पढ़ कर ! 'सौदामिनी' का लेखक बनने की मेरे मन में इच्छा जाग्रत हुई । मैंने अपने नगर का सुन्दर वर्णन लिखकर भेजा । संपादक उसे पचा गया । मैं समझा, शायद संपादकों को यह नहीं रुचता । नगर की उदासीनता छोड़कर मैंने जंगलों में कितने ही अमरूदों के तोते उड़ाये । गगन के स्वर में गिरवरों का भैरवी-राग लिखा । रमणीय झाड़ियों को कानपुर के सोहमन मुहाल की गलियों से उपमा दी । श्मशान को विश्व के विनोद और संतप्त-हृदय की सेहत का साधन बताया । और, एकान्त को रात्रि के सन्नाटे-सा लिखकर भेजा । पर सब व्यर्थ ! 'राष्ट्रीय-वीणा' के संपादक जी ने हफ़्ता पूरा होने के पहले ही मेरा लेख मेरे पास वापस भेज दिया—ज्यों-का-त्यों । केवल लिफ़ाफ़ा उनका अपना था ।"

पगली आशायें और साधनायें नन्हीं होती हैं । वे संभावनाओं के पाहों पर नहीं बैठ पातीं । क्या यही—

"—सो बात नहीं । संपादक कोमल लेखकों की आशाओं और साधनाओं का शिकारी होता है । जानते हो, मेरी उस समय क्या हालत थी ?"

आपकी हालत ! पुरुषार्थ का संचय कर मातृ-भाषा और उसके द्वारा मातृ-भूमि की वास्तविक सेवा करने के लिए—जिस तरह पुष्प अपनी सुगंध के लिए कुछ रस ज़मीन से और कुछ आसपास बहनेवाली हवा में से खींचता है, उसी तरह—आपने कुछ अपनी बुद्धि से और कुछ अध्ययन से अपने को परिष्कृत कर साहित्य-सेवा करना तय किया होगा ।

"ना, यह बात नहीं । संपादकों की उदासीनता से मेरा मन साहित्य-सेवा के परम हेतु से खिसककर कुछ समय के लिए हेतु-शून्य हो गया । उस समय

परस्पर-विरोधी दिशाओं के अन्दाज़े लगा कर मैं अपना नया हेतु ढूँढ़ने के लिए उद्विग्नता के सरोवर में गोते लगाने लगा।"

यदि उस समय आपने ऊँचे लेखकों की पुरुषार्थमयी कल्प-जीवनियों से सहारा लिया होता और साहित्य शिल्पियों के रूप में ज़िन्दा रहना तय किया होता तो—

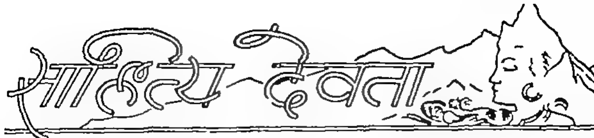
"—तुम नहीं समझते। मेरी बेचैनी के लिए, मधुर साहित्य-सेवा का मिष्टान्न, कुपथ्य से भी बढ़कर कुपथ्य था। जो थोड़ी-बहुत सेवा मैंने की थी, वह मेरे लिए बोझ थी। छापे की शीशों में वह चाहे पूरी न दबी हो, मगर मेरे आस-पास के मित्र उसे जानते थे। किसी लड़ते हुए के कलेजे में बुलेट लग जाने पर वेदना होती है या नहीं, मैं नहीं जानता, किन्तु जब राधामोहन पूँछता था—'तुम्हारी यौवन की रानी नामक कहानी 'वासन्ती'-संपादक ने स्वीकृत की या नहीं?' तब यह सवाल मेरे हृदय के आरपार हो जाता था। जीने से उतरते हुए ज़मीन पर गिर पड़ना मैं बरदाश्त कर सकता था, किन्तु डाकिये का कहानी छपने की इन्कारी का पत्र लेकर आना, मानो मेरे साहित्यिक-जीवन के लिए महामारी की बीमारी लेकर आना था। इसलिए पहले मैंने लेखक के नाते, नाम समेत निश्शेष हो जाना, और फिर एक उससे भी श्रेष्ठ पथ में चलना तय किया।"

यानी समालोचक होना न?

"हाँ।"

गुरुवर, मैं तुम्हारा शिष्य होकर आया हूँ। मैं भी लेखक-जीवन के कुंभी-पाक में नहीं रहना चाहता। लेखक के इस जीवन से समालोचन में, हे प्रभु,—

'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'



3

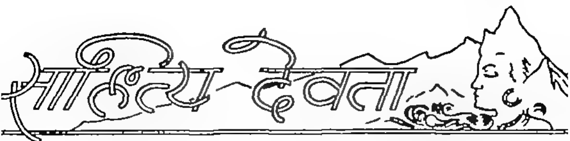
समालोचक उवाच—

"कलाकार-जीवन के कोष का परदा जालीदार होता है। उसमें मनोभावना छनकर आँखों पर आ जाती है। जिसका हेतु आँखों में गिरफ्तार किया जा सके, वह समालोचक के महान् सिंहासन पर आसीन होने का अधिकारी नहीं। महान् अंधकार में अनन्त योजनों पर निवास करनेवाले नक्षत्रों का चाहे कोई ज्योतिषी पता पा ले, किन्तु किसी देवर्षि की भी यह सामर्थ्य न होनी चाहिए कि सहस्र-सहस्र सूर्य की किरनों के आस-पास खेलते हुए भी, वह हमारे हेतु को गिरफ्तार कर सके। अंक-शास्त्र चाहे गणित की ग़लतियों का कोई अंदाज़ा जाँच ले,—किन्तु उसे यह साहस नहीं करना चाहिए कि वह हमसे बाज़ी ले सके। पुस्तक के पृष्ठ, पृष्ठ की पंक्तियाँ और पंक्तियों के अक्षरों से भी किसी ग्रंथ के विषय में हमारे दिखाये हुए दोषों की तादाद अधिक हो सकनी चाहिए। हमें अपने आक्रमण के लिए लक्ष्य की प्रतीक्षा में सूरज और चाँद की तरह अमावस और पूनो की बाट नहीं देखनी चाहिए। हमारा तो किसी भी ग्रंथ पर उसी समय खग्रास-ग्रहण जिस दिन हम चाहें।"

राहु तो पूर्णचन्द्र पर ही आक्रमण करता है, बालचन्द्र पर नहीं।

"किन्तु, समालोचना के जगत् में इस बात का ख़याल नहीं रखना पड़ता। यहाँ तो अनेक बाल-लेखकों का संहार कर समालोचन की धाक जमानी होती है।"

छोटे, नन्हें बच्चों को चलना सिखाने के लिए मातायें भी तो बच्चों के साथ उनकी अँगुली पकड़कर चलती हैं। वे उन्हें गिरने नहीं देतीं। क्या समालोचक के लिए यही करणीय नहीं है।



"हाँ, हमारे प्रभाव का तूफ़ान ज़िन्दा रखने के लिए, और हमारे अस्तित्व के 'वैरागी' जीवन पर भस्म लपेटने के लिए तरुण और नवागत लेखकों की महत्त्वाकांक्षा की राख ज़रूरी है।"

तब तो साहित्य से कितनों ही की बाल-हत्या हो जायेगी?

"हर्ज नहीं, अयोग्य नष्ट हो जायेंगे, योग्य ज़िन्दा रहेंगे।"

तब आप अब 'कादंबिनी'-संपादक पर रूठे हुए हैं, किस कारण से?

"मेरे प्रभाव को मस्तक न झुकानेवाली दुनियाँ की अकड़ को चुनौती मानना मेरा धर्म है।"

और अमर उपन्यासकार मधुरेश जी पर चढ़ाई क्यों कर रखी है?

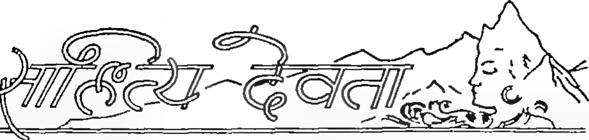
"आदमी सदा ही वीर-रस में नहीं रह सकता। उसे हास्य भी चाहिए। समालोचक का हास्य वह छेड़-छाड़ है जिसे वह बिना आवश्यकता के भी उत्पन्न किया करता है। उसकी शक्ति 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' होती है।"

किन्तु, आप केवल समालोचक ही तो नहीं हैं, संपादक भी हैं। क्या 'विपदन्त' के संपादक होने के नाते आप पर कोई ज़िम्मेदारी नहीं है?

"पागल हो! अरे, समालोचन और आक्रमण की साध पूरी करने के लिए तथा अपने पर अवलंबितों को लेखन और काव्य में 'महापात्र' साबित करने के लिए संपादन एक आवश्यक रोज़गार है।"

आखिर जो काम नम्र-संकेतों से हो सकता है, वह कठोर चढ़ाई से क्यों किया जाता है?

"इसलिए कि जिस 'नन्दन' पर भी हमारे तीर पहुँच जायें, उसे साहित्य की दुनियाँ में श्मशान हो जाना चाहिए।"



आखिर, समालोचना की आदर्श दिशा चुनने के महाग्रंथ की भूमिका में क्या कहा जायेगा?

"यही कि, प्रत्येक लेखक और कवि चोर है। कोई विचार चुराता है, कोई भाषा और कोई रचना। यह नहीं होना चाहिए। लेखक या कवि का मौलिक होना ज़रूरी है।"

क्या बिना चोरी के विचार, भाषा और रचना की स्वरूप-समता भी संभव नहीं?

"परन्तु, लेखक या कवि के पास क्या प्रमाण है कि उसने चोरी नहीं की।"

क्या इसका अर्थ यह है कि लेखक या कवि होना प्रकृति-प्रदत्त चोर होना है?

"तो फिर क्या इसका अर्थ यह है कि कहीं से विचार, कहीं से भाषा, कहीं से शैली और कहीं से रचना हड़प कर मज़े में लेखक बन लिया जाय।"

आपकी दृष्टि में कोई लेखक भले आदमी भी हैं?

"हमने सब ग्रंथों की परीक्षा नहीं की, किन्तु परीक्षा से जाना है कि अधिक तादाद चोरों की है।"

किसी ग्रंथ या लेखक की चोरी पकड़ने में आपको कितना समय लगता है?

"अधिक-से अधिक एक सप्ताह।"

सो कैसे?

"अँगरेज़ी या बंगाली के तद्-तद् विषयों के ग्रंथ देखना जहाँ हमने शुरू किया कि चोरियाँ एक के बाद दूसरी हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती हैं।"

चाहे उन लेखकों ने आपके पढ़े हुए उन ग्रंथों को देखा भी न हो।

"बिना देखे वाक्य या भाषा या मज़मून या शैलियाँ कैसे मिल सकती हैं।"

मैं इस प्रश्न को ज़रा दूसरी तरह से समझने का यत्न करूँ, भगवन्! आपने कभी ऐतिहासिक पुस्तकों को पढ़ा है?

"ज़रूर।"

और वैज्ञानिक पुस्तकों को?

"हाँ।"

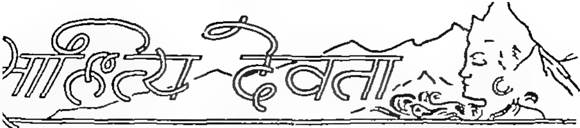
राजनीति, अर्थशास्त्र आदि के ग्रंथ भी आपने पढ़े ही होंगे?

"हाँ पढ़ लेता हूँ।"

फिर उन ग्रंथों में, कौन-सी बातें दूसरे ग्रंथों के आधार पर नहीं लिखी जातीं? इन विषयों के लेखकों का अपना 'शुद्ध मौलिक' क्या होता है, आपने कभी गहराई से सोचा है?

"मैंने प्रायः ऐसे ग्रंथों की समालोचना नहीं की। यदि करता तो इनमें भी बहुत कुछ ढूँढ़ा जा सकता था। साथ ही यदि उक्त विषयों में मौलिकता नहीं है, तो क्या साहित्य के लेखकों में भी नहीं होनी चाहिये?"

खता माफ़ हो सरकार, मैंने यह नहीं कहा कि उनमें कुछ मौलिक नहीं होता। मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि जब केवल कुछ विचार, ज़रा-सी शैली और तनिक भाषा मिल जाने पर कहानी, कविता, उपन्यास आदि के लेखक को सूँघ-सूँघ कर चोर साबित किया जा सकता है, तो आपकी अदालत में दूसरे लेखकों के सारे-के-सारे विषय को निगलनेवाले कुछ विषयों के लेखक डाकू क्यों नहीं क़रार दिये जाने चाहिए? यदि वे डाकू नहीं, तो उन्हीं की तरह निर्दोष बनने के लिए क्या आप साहित्य के लेखकों



को दूसरे ग्रंथकारों के समान इजाज़त देंगे? इन विषयों का भी अपना मौलिक कुछ होता है। परन्तु प्रभु, मुझ मन्दबुद्धि को आप समझायें तो, वह कौन-सा?

"किन्तु ऐसे विषय ही आड़े आते हैं।"

ना भगवन्! ज्योतिष में मौलिक क्या होगा? व्याकरण में मौलिक नियम कौन-से हैं? और भूगोल की मौलिक दुनिया कहाँ बनाई जावेगी? क्या यह सत्य नहीं है कि मौलिकता के रक्त-कर की माँग पर अपना संपूर्ण रक्त चढ़ा चुकने के बाद भी केवल बेचारे साहित्य-शिल्पी ही दाग़दार करार दिये जाते हैं। यों तो व्यास, वाल्मीकि और कालिदास तथा तुलसीदास भी इस भगवान् की तरह व्याज चोरी से नहीं बच सकते। इनके सिवा इतिहास, विज्ञान, ज्योतिष, तर्क और अर्थ-शास्त्र आदि विषयों की आलोचना का बोझ गरीब हिन्दी-संसार कैसे सँभाले? इन विषयों के ग्रंथों की आलोचना शास्त्र शैली और भाषा की चोरी ढूँढ़ कर नहीं की जा सकती। वहाँ हडसन, वैनिटी फ़ेयर और आँख की किरकिरी की आत्मा हरने से सब काम चलता हो। यहाँ तो विज्ञान, इतिहास और ज्योतिष आदि विषय प्रचण्ड विद्वत्ता और अगाध अध्ययन चाहते हैं। वह 'राष्ट्र'-भाषा में कहाँ संभव?

"तो क्या, साहित्यिकों को चोरी करने का लाइसन्स दे दिया जाय?"

ना, भगवन्! साहित्य-शरीर के ज़िन्दा रहने के लिए, बाहर की वस्तु, चाहे वे अन्न-जल ही क्यों न हों हरगिज़ न आने दीजिए। मौलिक शरीर की बाढ़ के लिए बाहर के अन्न-जल की ज़रूरत? परन्तु, कलियुग आ गया है।

"यानी?"

चाहे उन लेखकों ने आपके पढ़े हुए उन ग्रंथों को देखा भी न हो।

"बिना देखे वाक्य या भाषा या मजमून या शैलियाँ कैसे मिल सकती हैं।"

मैं इस प्रश्न को ज़रा दूसरी तरह से समझने का यत्न करूँ, भगवन्! आपने कभी ऐतिहासिक पुस्तकों को पढ़ा है?

"ज़रूर।"

और वैज्ञानिक पुस्तकों को?

"हाँ।"

राजनीति अर्थशास्त्र आदि के ग्रंथ भी आपने पढ़े ही होंगे?

"हाँ पढ़ लेता हूँ।"

फिर उन ग्रंथों में, कौन-सी बातें दूसरे ग्रंथों के आधार पर नहीं लिखी जातीं? इन विषयों के लेखकों का अपना शुद्ध मौलिकत्व क्या होता है, आपने कभी गहराई से सोचा है?

"मैंने आज ऐसे ग्रंथों की समालोचना नहीं की। यदि करता तो इनमें भी बहुत कुछ देखा जा सकता था। साथ ही यदि उक्त विषयों में मौलिकता नहीं है, तो क्या साहित्य के लेखकों में भी नहीं होनी चाहिये?"

क्षमा माफ़ हो सरकार मैंने यह नहीं कहा कि उनमें कुछ मौलिक नहीं होता। मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि जब केवल कुछ विचार ज़रा-सी शैली और तनिक भाषा मिल जाने पर कहानी, कविता, उपन्यास आदि के लेखक को सूँघ-सूँघ कर चोर साबित किया जा सकता है, तो आपकी अदालत में दूसरे लेखकों के सारे-के-सारे विषय को निगलनेवाले कुछ विषयों के लेखक डाकू क्यों नहीं क़रार दिये जाने चाहिए? यदि वे डाकू नहीं, तो उन्हीं की तरह निर्दोष बनने के लिए क्या आप साहित्य के लेखकों

की दूसरे पैगम्बरों के समान इजाजत देंगे ? इन विषयों का भी अपना मौलिक कुछ होता है। परन्तु प्रभु, मुझ मन्दबुद्धि को आप समझावें तो, वह कौन-सा ?

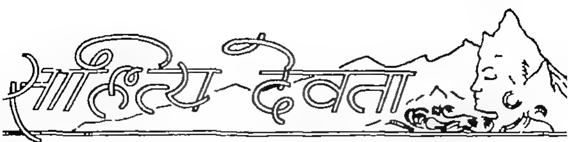
"किन्तु ऐसे विषय ही थोड़े होते हैं।"

ना भगवान् ! ज्योतिष में मौलिक क्या होगा ? व्याकरण में मौलिक नियम कौन-से हैं ? और भूगोल की मौलिक दुनिया कहाँ बसाई जावेगी ? क्या यह सत्य नहीं है कि मौलिकता के रक्त-कर की माँग पर अपना संपूर्ण रक्त चढ़ा चुकने के बाद भी केवल बेचारे साहित्य-शिल्पी ही दावालसाज करार दिये जाते हैं ! यों तो व्यास, वाल्मीकि और कालिदास तथा तुलसीदास भी इस भगवान् की तरह व्यास चोरी से नहीं बच सकते। इसके सिवा इतिहास, विज्ञान, ज्योतिष, तर्क और अर्थ-शास्त्र आदि विषयों की आराधना का भार गरीब हिन्दी-संसार कैसे सँभाले ? इन विषयों के ग्रंथों की आराधना शब्द, शैली और भाषा की चोरी ढूँढ कर नहीं की जा सकती। वहाँ हडसन वैनिटी फेयर और आँख की किरकिरी की माला फेरने से काम चल सकता हो। यहाँ तो विज्ञान, इतिहास और ज्योतिष आदि विषय प्रचण्ड विद्वत्ता और अगाध अध्ययन चाहते हैं। वह 'राष्ट्र'-भाषा में कहाँ संभव ?

"तो क्या, साहित्यिकों को चोरी करने का लाइसेन्स दे दिया जाय ?"

ना, भगवान् ! साहित्य-शरीर के जिन्दा रहने के लिए, बाहर की वस्तु, चाहे वे अन्न-जल ही क्यों न हों हरगिज न आने दीजिए। मौलिक शरीर की बाढ़ के लिए बाहर के अन्न-जल की जरूरत ? परन्तु, कलियुग आ गया है !

"यानी ?"



रेलें, जहाज और हवाई जहाज विश्व भर का ज्ञान लेकर हमारे दरवाजे उँडेलते हैं। हमारे लेखकों का यह काम है कि विश्व के समस्त ज्ञान के खजानों को गरम पानी के चूल्हे में जला दिया करें, किन्तु वे उसे पढ़ते हैं। पढ़कर विश्व के चिंतकों की तरह चिंतन करते हैं और उस चिंतन को लिखते हैं। भला यह चोरी क्यों न कही जावेगी? परन्तु,—

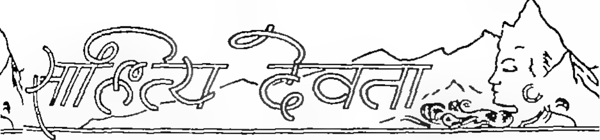
'तब आप साहित्य में मौलिकता नाम की कोई वस्तु ही नहीं मानते?"

मानता क्यों नहीं हूँ? मैं तो मानता ही हूँ कि कविता, कहानी और उपन्यास के लेखक ने माँ के पेट से जन्म तो लिया ही होगा। माँ ने शब्द सिखाये होंगे, पिता ने वाक्य बनाना। शाला के पाठक ने भाषा 'बनाई' होगी। विद्वानों ने अपने विचारों और शैलियों से संस्कार किया होगा। और इसी बीच ग्रंथों ने आकर विद्वानों का स्थान ले लिया होगा। तब फिर इतनों की चोरी करनेवाला साहित्यिक, चोर क्यों न होगा? इसलिए मौलिकता का अस्तित्व मान भी लूँ तो अपनी मन्दबुद्धि के कारण यह मेरी समझ में नहीं आता कि आखिर मौलिकता है कौन वस्तु और यह बेचारे साहित्यिकों ही की साढ़साती क्यों बनी रहती है?

"इस बात का पता उस दिन लगेगा, जब तुम अपना मुँह किसी दिन मासिक 'विपदन्त' की संख्याओं को उठाकर देखोगे, जिनमें मैं अपना ईमान व्यक्त किया करता हूँ।"

आपके ईमान की जय हो, भगवन्!





साहित्य की वेदी

तुम्हारी वेदी !

वेदी वह जिस पर मैं आदर से आँसुओं के फूल चढ़ाने को लालायित रहता, जिसकी ओर से आनेवाली वीरता की झंकारों को सुनकर पापियों में पवित्रता उमड़ पड़ती, कमज़ोरों में बिजली दौड़ जाती, साहित्य की ध्वनि धारा में अद्भुत राष्ट्रीय संगीत सुनाई पड़ने लगता, नीर क्षीर बिलगानेवालों का दल जिसके आस-पास कुतूहल से चंचल हो फुदकने लगता, साहित्य-सुधा के मधुर सरोवरों के सरसिज, मृग मद की मस्ती पर कढ़नेवाले परिमल को छोड़-छोड़ उसे सुगन्धित करने लगते,—ऐसी, ऐसी वह तुम्हारी वेदी ! लो, एक बार मैं उसकी ओर झुक लूँ ! मेरे जीवन का वह सर्वस्व, मेरी आशाओं की वह पिटारी, मेरी आपत्ति नटी की वह नाट्य-पटी, मेरी मातृ-भूमि की गोद की वह शोभा और मेरे पिछड़े भू-भाग की वह परम-पावनी कर्तव्य-पीठिका, देखूँ कैसी हो रही है !

* * *

मैं उसे मूल्यवान् समझता हूँ, किन्तु उसका मूल्य चाँदी-सोने के टुकड़े नहीं हैं । वह मूल्यवान् होकर भी खरीदने, बेचने और उपहार में देने की वस्तु नहीं है । उसे पानेवाले के शरीर पर, 'फटे पुरानेपन' का राज्य पथ में विरोध, ग़रीबी, घृणा, क़ानून और लक्ष्मी के गुलामों की कृपा के तीखे काँटे, पदों में पुरुष को आगे न बढ़ने देनेवाले बन्धन, शिर पर मिट जाने की कल्पना, कण्ठ में ताक और तिसपर भी माता की पूजा के भावों से मस्त मीठा स्वर, आँखों में श्रम की क्षीणता और तुम्हारे चरणों के धाने के लिए आँसुओं की धारा, गालों पर ईसा के आज्ञा पालन की तैयारी, मुँह में मौन

भाषा की मनोहर स्तोत्र माला, हृदय में देश की दसों दिशाओं में गूँज मचाने वाली वीणा तथा दुर्बल को सबलता का स्वरूप बना डालनेवाली पुस्तक लिये हुए तुम, और हाथों में, अपनी श्यामता से श्याम के मन को भी मोह लेनेवाली लेखनी,—वह लेखनी जिसके बल पड़ने पर मरे हुओं में जीवन-ज्योति जगमगाने लगे, बिछुड़े हुए मिलने को टूट पड़ें, सोते हुए जागृति का सन्देश पहुँचाने लगें और पिछड़े हुए अग्रगामियों को पथ में पीछे छोड़ ऐंठने की उनसे दीखें,—ऐसे अक्षरों के उपासक शब्दों के साधु, पदों के पूजक, व्यंजनों के विनयानंद विहारी, सन्धियों के निर्माता, और पूतना मारण लब्ध कीर्ति' के अंग में नित-नव आभूषणों को समर्पित करनेवाले, किन्तु भावों का, मतवाले हो क़लम के घाट उतारनेवाले ही को अधिकार है कि वह आगे बढ़े और तुम्हारी अमृत-सन्तानों की आज्ञा को शिर पर धर कर तुम्हारा पवित्र सन्देश सुनाने, तुम्हारा दिव्य दर्शन कराने और तुम्हारे लिए की हुई आजन्म तपस्या का प्रत्यक्ष परिचय देने के लिए आगे बढ़े, और आशीर्वाद के जल कणों से सिंचित उस वेदी रूपी गोदी में पड़े हुए, परिमलपूरित, प्रफुल्लित पंकज के समान शोभित हो वह महाभाग, और उस तुम्हारे भावों के मतवाले के मस्त सौरभ से महक उठे माता, वह तुम्हारी वेदी।

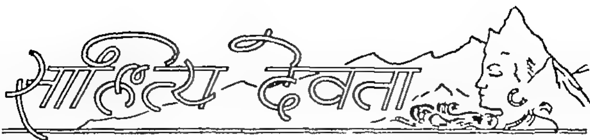
* * *

पुकार हुई और तुम्हारे आराधकों ने तुम्हारे एक सेवक को ढूँढ़ा। उसने गिरिगह्वरों में प्रवेशकर तुम्हारी अमृत सन्तानों का मित्र बनकर तुम्हारा कीर्तिगान किया था, उसने हिंसकों से पूरित बीहड़ वन में तुम्हारे वाहन के नाम की गगन-भेदिनी गर्जना सुनाने में साथ दिया था, उसने तुम्हें पहनाने के लिए माला गूँथने में अपने को आगे बढ़ाया था, और उसने

हिंसकों के हृदयों को न हिलाकर, हिमालय के पुत्र की एक कन्दरा में अपना जीवन बिता समर्थ के सन्देशों को दुहराया था, और उसने कर्मयोग के सन्देश वाहक का सच्चा सेवक बनकर दिखाया था। हम दौड़ पड़े, और तुम्हारी वेदी, उसकी महत्ता और पूज्यता की रक्षा के लिए उसके चरणों में बैठकर बड़ी भाव-भगत से आराधना की। उस संसार को परिवार माननेवाले, उस "ये यथा माम् प्रपद्यन्ते" के व्रती, उस बन्धनों के निर्मोक, दर्शन के भिखारी और कर्मों के तपस्वी की छाया में बैठकर हमने स्तोत्रों का पाठ किया, षड् यन्त्रों के सिवा शेष यन्त्रों की रचना दिखलाई, मारण और उच्चाटन के सिवा शेष मन्त्रों का प्रयोग किया और उस स्वतंत्र दीखनेवाले के तन्त्र में आ जाने के लिए प्रत्यक्ष आत्म-समर्पण का वचन दिया। किन्तु उसने, उस स्वतंत्रता को चरम सीमा की सेविका बनाकर, हतभागिनी बनानेवाले देव ने हमारी हजारों आकांक्षाओं और तुम्हारी आज्ञा और आदेश के अनेक अनुसन्धानों को अपने पदों से रौंद डाला। गौरव उसकी दृष्टि में रौरव था। उसने यही सिद्ध किया। उसने गौरव के सार कण-कण को अलाहिदा कहकर ठुकरा दिया। और वेदी पर चरण रखकर चढ़ने के बजाय, उस पर अपना मस्तक रखने की इच्छा प्रकट की।

तब से मस्तक उठाने, मस्तक रखने और मस्तक और हृदय की भक्ति चढ़ानेवाले लोग चरम अभिमान से तुम्हारी इस वेदी को हरा-हरा किये हुए हैं।

और वेदी के ये उपासक, अमर हैं, अपराजित हैं, सदैव आराधनामय हैं; इन्हीं को पाकर निहाल है, तुम्हारी वेदी।



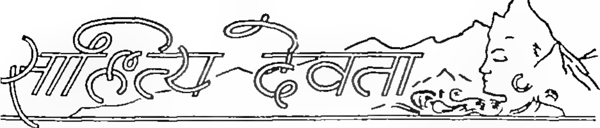
बिन्दु, सिन्धुत्व का दावेदार

जल-बिन्दुओं में यदि मिलन का स्वभाव न हो तो जल-समूह सिन्धु न कहला सके। द्रवित के देवत्व में प्रकृति ने भी अपने को सीमा-रेखा खींचने में असमर्थ पाया है। इस भूमिका का यदि कोई जल बिन्दु-प्रतीक ढूँढने चले तो वह किसी ह्विटमन, किसी सूर, किसी तुकाराम, किसी चैतन्य के पास जाकर ठहर जाय।

ऊपर से नीचे की ओर गिरना—कैसी कठोर तपस्या है। नीचे से ऊपर की ओर जलराशि समूल उड़कर गया था, वायु बनकर; और ऊपर से नीचे की ओर व्यक्ति बनकर टपक आया, बिन्दु बनकर।

कुछ वे हैं जो ऊपर चढ़ने को इतिहास कहते हैं, कुछ वे हैं जो नीचे उतरने को देवत्व बताते हैं। पहलों का उदाहरण मुक्तिवाद है, दूसरों का उदाहरण अवतारवाद है। परन्तु नीचे का उतार ही तो ऊपर जाने का प्रयत्न है। इसीलिए मज़हब नीचे से ऊपर चढ़ने की गुण-गाथा रचता है, और कवि ऊपर से नीचे का अपनी गंगा बहाता है। किन्तु टाटे में तो वे रहते हैं कि आँखों की सतह पर उतरानेवाले प्रकृति के इस प्रकृत कौशल में सीमा रेखा खींचने का जतन करते हैं। मैं तो अवतार की तरह उतावला, गंगा की तरह पागल, उतार को नमस्कार करके अपनी बात कहना चाहता हूँ।

आँखों से देखने का उधार सौदा अनेक वर्षों करने के बाद, कहीं आँसें दलने की आदत जाती दीखी। ये दोनों काम सृष्टि में पड़नेवाले अकालों की तरह दूर रहे। किन्तु एक दिन कोई बाँसुरी बजा उठा। और जिन आँखों को मैं देख रहा था, उनमें पानी भर आया। जरूरत का आवेग उस पानी



को बाहर ढकेल रहा था; और लोक-लाज की लाचारी पलकें बनकर उसे अन्दर को समेटना चाहती थी। इस तरह स्नेह और लाज में पचास की सदी की जीत-हार चल रही थी। हाँ, पर मैंने देखा, समूचा दिन बीत गया किन्तु सूरज के पाँव के कोई निशान ज़मीन पर बाकी नहीं रहे। जिसे कोई इतिहास कहता, साहित्य कहता, शास्त्र कहता।

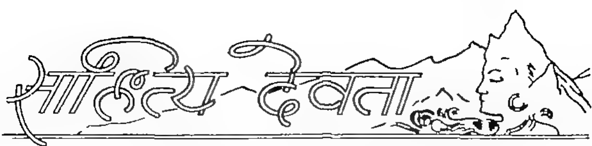
मैंने अपनी बाँसुरी, लाचार उठाई। और साँसों के हाज़िरी रजिस्टर में सूरज और चाँद के हरी-हरी ज़मीन पर किये गये पापों और पुण्यों का लेखा-जोखा बाँसुरी की ध्वनि में, ध्वनियों में, गूँथकर उसे ज़मीन के पत्थरों, भोज पत्रों और तलघरों पर रख दिया। लोग कह उठे—'युग बोल उठा!' मुझे नहीं मालूम मेरी बाँसुरी के सिवा युग किस चीज़ का नाम है!

जिस दिन बाँसुरी बाजी मुझे ढूँढनेवाले निकल पड़े। शास्त्र के मानव के तो मैं हाथ न आता किन्तु शास्त्र का दानव सर्वव्यापक था और मेरे अपनों के सारे रहस्य को वह अपनी जागीर बताकर उसे मशहूर कर गया। मैं उस समय चिल्लाता था। किन्तु, कवि का 'मैं' तो उस अभागी वस्तु का नाम है जिसके गीतों की मिठास का भी तमाशा ही देखा जाता है और जिसके सर्वनाश के रोदन का भी तमाशा ही देखा जाता है।

मेरी लाचारी और उसासों का नाम जिस दिन 'कला' पड़ा उस दिन मुझे मालूम हुआ कि मेरा चिर-संचित 'रस' मानो बाज़ार में बँटा दिया गया। मेरी सिसक मात्र रोज़गार हो गई।

बे-मौसम मेरे जी में आनेवाली वेदनाओं का मौसम बनानेवाले ही तो मुझे कलाकार के नाम से बदनाम करनेवाले जानकारी हैं।

किन्तु, नदी चाहे जितनी तरल-हृदया हो वह इतनी बलशालिनी तो



नहीं होती कि किसी ज़रूरतमन्द प्यासे को देखकर वह अपने में जब चाहे बाढ़ ला सके। और अपने आपको प्यासे के ओठों तक पहुँचा सके।

विधाता के निर्माण में यही तो कमी है कि सीमाबद्धता से अस्तित्व बनता है, सीमा छोड़कर वह ज्यों-का-त्यों नहीं रह जाता।

तब सूझ की देन के मर्यादित उपकरणों को एकत्रित कर मेरे बन्धन और सर्वनाश के साधन एकत्र किये गये। उन्होंने शास्त्र नाम पाया। और जो मीठा-मीठा-सा, कोमल-सा, कल्पना में बेदाग़ और ऊँचा किन्तु कर्मण्यता में लाचार-सा सूझ का वैभव बाक़ी रह गया, उसे कला का नाम दे दिया गया।

मानो कोई कहानी लिख रहा था और उसका पहला वाक्य था—एक था राजा और उसके यहाँ थी एक दासी। यह समझौता मुझे कभी स्वीकार नहीं हुआ। इसीलिए मैंने शास्त्र को घिसे हुए पैसे की तरह रूढ़ कहकर पीछे फेंक दिया। और अपने लिए विद्रोह का रास्ता अख्तियार किया। अब मेरे शब्दों में कला, प्रलय के खिलवाड़ को कहते हैं, विद्रोह को कहते हैं।

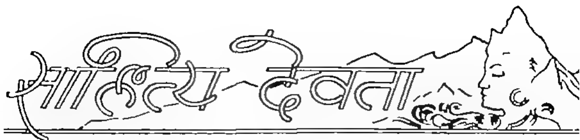
विद्रोह की यही भावना थी जिसने ख़यालों के परिवर्तन को जगत् पर उतारा। पहले मानवों के द्वारा विचार बनते थे, अब विचारों की ज़मीन पर विधाता अपने मानव ढालने को बाध्य हो गया है। यह केवल मेरी लेखनी का प्रसाद था। शास्त्र बेचारा लाचार था कि उससे सब कुछ बन सकता है, मानव नहीं। विधाता जो प्राणी विचारों पर नहीं ढाल सकता, वे विधाता के बनाये हुए होकर भी जड़ हैं। चतुष्पाद होकर भी जड़ हैं। बलवान होकर भी पराधीन हैं। शक्ति—वृन्दावन की गाय है। और

मेरी प्रजनन-भावना यशोदा गामिन है। एक दुही हो जायगी, दूसरी दुहती ही जायगी।

बाँसुरी के स्वर पर साँप स्वभाव झूमने लगे; तब मानव तो कहाँ तक बेबस रहता! विभूतिधारी मुझको, हिरन-विभूति का स्वामी बनाकर सिंहासन पर बैठाया गया। सूर्य-किरणों ने भूमि की गतियों और धाराओं से घूम कर मुझे हिमालय के सिर पर हिमखंड बनाकर उच्चत्व प्रदान किया। रिश्वत बहुत बड़ी थी; शताब्दियों मानवता का मुँह बन्द कर देने के लिए। किन्तु यदि मैं उसे स्वीकार कर लेता तो मेरी पीढ़ी, वृन्दावन की गायों की पीढ़ी, और गोकुल के ग्वालों की पीढ़ी, किसी दुर्गम स्थान पर त्राहि-त्राहि करते रहते। सिंहासन पर बैठते समय मुझे अपेक्षाकृत गम्भीरता मालूम हुआ। मैं तो वही बिन्दु था न, जिसमें सम्मिश्रण-भावना का तात्पर्य था और बिन्दुत्व की मर्यादा को मिटाकर सिन्धुत्व प्राप्त करने के लिए सदियों तक पतितोन्मुख निम्नगा बनने की तैयारी थी। मेरा तो स्वभाव ही ढालू जमीन की ओर जाने का है। ऊँचे के वैभव को नीचे लाकर बाँट देना ही मेरा तरलाई का वरदान है।

रिश्वत की थरथराहट से मैं नगाधिराज के मस्तक पर हिमखंड बनाकर बैठा दिया गया था, किन्तु सूरज की सूर्य-किरणें, जो मेरी अपनी चीज हैं, मुझे नीचे का पता लाईं। आकाश के देवताओं ने कहा होगा "यह परम उच्छृंखल, परम निर्लज्ज उच्चातिउच्च से—और कितने नीचे जायगा"। किन्तु मैं तो जमीन के मानवों की वाणी सुन रहा था जो मेरे उतार का मर्मान्तक प्रणय पहनकर पूजा कर रहे थे।

और देवताओं के उस सिंहासन से 'उतरकर' मैंने गति पाई, प्रगति पाई, प्रवाह पाया, प्रभाव पाया, रंग पाए, तरंग पाए। और जहाँ तक मैं प्रवाहित



रहा अपने दोनों किनारे हरे-भरे पाये। मानो, शाप ने उत्पथ से मुझे देश निकाला दे दिया। रूढ़ि की दासी, सूझ के राजा के साथ और व्यवहार ही कैसे-सा करती? यदि मन्थरा के दिमाग की विकृति राम को देशनिकाला दिलवा सकती थी तो मैं भी वही पथ क्यों न ग्रहण करता? किन्तु, मेरा यह देशनिकाला मानो, मृत्युरूपी मैके से अमरत्व के दिग्विजय के लिए मेरी विदा थी। बिन्दुओं के धारा बने जीवन में मेरे उपादान न थे किन्तु मेरी गति से भी स्वर निकलता था। ठोकर मुझमें विद्युत् और संघर्ष मुझमें संगीत भरता था। मुझे चढ़ते समय किसी ने न देखा था, किन्तु आसमान से उतरते समय मेरे टेढ़े आड़े पैरों के निशान बनकर इन्द्रधनुष बनते थे, बिगड़ते थे। वायु, ऊपर को भले जावे किन्तु तरलाई तो सदा आकर्षण की ओर जाया करती है, चाहे उसे गुरुत्वाकर्षण कहिए। विश्व के समस्त प्रचलन का केन्द्र बिन्दु आकर्षण है। सन्तत्व के प्रचलन का भी, देवत्व के प्रचलन का भी। क्या तुम मेरे इस आकर्षण को कमी कहोगे? तब तो तुम मातृत्व को रोज़गार कहोगे। शास्त्र और कवि से झगड़ा होने की यही जगह है। तुम सत्य को न समझकर भी उस पर बहस कर सकते हो और मेरे लाचार मौन में से भी सत्य ही का स्वर झंकृत होता है। बिना उपकरण, बिना सेना, बिना साधन और बिना सामर्थ्य जब मैं वैभव के घर से निकाला-सा ज़मीन पर बार-बार चलकर तरल धाराघाली किनारे बनाती पगडण्डी बनाता होता हूँ तब यदि बादल आ जाते हैं तो मैं किसी झाड़ के नीचे खड़ा हो जाता हूँ। मैं होता हूँ, मेरा साहस होता है, मेरी कविता होती है। उस दिन तुलसीदास के शब्दों में कौशल्या की तरह मेरे लिए कोई यह कह चिन्ता नहीं करता कि:—

काहु बिरछ तर भीजत हुइ हैं
राम लखन दोउ भाई ॥

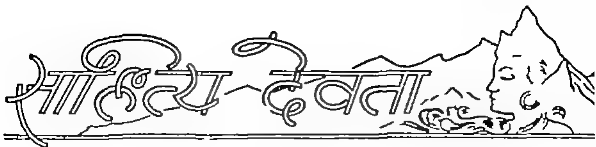
पानी मुझे बहा नहीं सकता। गरमी मुझे जला जो न पाई थी। उसने प्रवाहित कर दिया था। तब पानी मुझे कैसे बहाता? उन बरसाती बूँदों के बीच खड़े हुए थरथराते हुए मेरे शरीर का पृथ्वी के हरि वाले वैभव ने, फूलवालों ने फूल लेकर, काँटोंवालों ने काँटे लेकर और पत्ती वालों ने पत्ती ही को हिला-डुलाकर उस एकान्त में मेरा वन्दन किया था। उस समय मुझे ऐसा लगा कि किसी बबूल के बगल में उगा हुआ मैं भी एक बबूल ही का पेड़ हूँ। मानो वायु की सनसनाहट और पत्तों की खरखर में मैं वृक्षलोक की भाषा का कवि हूँ। काँटे कहानियाँ कहते-से फूल पूजा करते से और पत्ते धीरज बँधाते-से नजर आते थे। तिस पर उस समय का टिटहरी का बोल पड़ना। मानो जमीन पर गड़ती हुई आँखों का आसमान में न्यौता भेजा था।

करौंद के झाड़ पर मैंने अपने दोनों हाथ उस वर्षा में लटका दिये थे। किन्तु उस झाड़ की जड़ों से डालियों में चढ़ता हुआ रस डालियाँ समझकर मानो मेरी भुजाओं में भी चढ़ा जा रहा हो। पैरों के नीचे जमीन थी सिर पर आसमान की बूँदा-बूँदी थी, काँधे के पास पक्षी दुबक कर बैठे थे, जड़ें हाथों में रस दे रही थीं और मैं नदी के तट पर निस्तब्ध खड़ा था। तब मुझे यह विभ्रम कैसे न होता कि मैं वृक्ष हूँ। तब, बरसती बरसात में मैं हरा-भरा सुखी हो उठने के बजाय, दुःख किस बात का मनाता? आसमान से गिरते हुए निरंकुश को चाहे किसी ऋषि ने बचाया हो या नहीं बचाया हो, किन्तु, वृक्षों की मस्तानी एकतानता ने मुझे जरूर वृक्षत्व के अमर हरियालेपन में म

पत्नी में नीचे बहने दिया, न मानसर के आगास से मुझे नीचे गिरने ही दिया। इस तरह वृक्षों के मौन गुरु ने मुझे एकरसता के हरियालेपन का ऐसा पाठ पढ़ाया कि अब जब कभी मेरे अमरूद की डाल से मेरी चम्पकलता साथ अपना चौंधा रगड़ने लगती है, तब मैं उस पर नाराज होने दौड़ता हूँ कि कहीं वह अमरूद की डाली में काँटे न पैदा कर दे। गुलाब की अन्तरात्मा में उतरने के लिए किसी जगदीशचन्द्र की ज्ञान-सीढ़ी की किसी कवि का जरूरत ही कैसे पड़ सकती! हृदय तो वह स्टेशन है जिस पर अस्तित्व अपना लगेज लेकर नहीं आ-जा सकता। अस्तित्व का यह स्थान, आकर्षण का यह देवालय, प्रवाह का यह अमरत्व, गति का यह संकेत-दर्शन, मेरे गुतोनों की तरह मेरे साथ है और जीवन की समस्त परिस्थितताओं के साथ वह मेरे ही साथ रहता आया है, मेरे ही साथ रहता जायगा।

मैं गतिशील हूँ, मैं तरल हूँ मैं प्रवाही हूँ, मैं निम्नगामी हूँ, मैं विश्व की समस्त हरीतिमा के भूमि के प्रतिकूल विद्रोह कर, ऊँचा सपुष्प सफल बनाने वाला, जीवन रस हूँ।





नीलाम

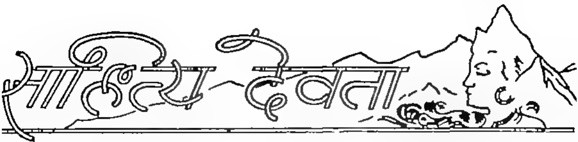
गुलाब, तेरे पाश्र्व से 'मौं' वाली कूक रही है ! इसलिए कि तूने भूमि से रस लिया है और वायु को सौरभ प्रदान कर दिया है। तूने अपने आत्म-प्रभाव से प्राप्त देवत्व को विश्व-संविधा वायु के चरणों चढ़ा दिया है। इसीलिए तो वह, प्रातःकाल आकर पत्तों से बेचैन कलियों पर पंखे झला करती है। किन्तु तेरी शोभा, तेरा पुरुषार्थ, कलियों की कला और लालित्य में कहाँ है ! वह तो काँटों के तेज और पुरुषार्थ में विद्यमान है।

किन्तु कला और लालित्य; तेज और पुरुषार्थ —आज ये सब नीलाम पर निकले हैं। ज्ञान की गठरियाँ बहुत हैं; मानवता की मरीचि-मालाओं का टोटा है। तुड़ी और बेतुकी तितलियाँ बहुत हैं; प्रभु-धामगामी, नभ-विच्छेदी गरुड़ का पता नहीं। गीत हैं —ग्रामोफ़ोन की चूड़ियाँ चक्कर काट रही हैं, नन्दन की मयूरी कहाँ कूक रही है ! देवता को पत्थर बनाकर सिंदूर लपेटनेवाले हैं; स्वयं प्रभु की आकाशवाणी बननेवाले कहाँ हैं ! यूनिवर्सिटी की तादाद बढ़ानेवाले हैं किन्तु वीणा-धारिणी के युग-संदेश-वाही मयूर नहीं हैं। क्यों ?—

'इसलिए कि आज मैं नीलाम पर बिकने निकला हूँ !'

* * *

आज ग़रीबी गर्व नहीं रह गई। कारलाइल के शब्दों में विद्या का अमर अधिकार आज बिकने निकला है। एक दिन मेरे जन्म पर आ-भार माना जाता था। विभवों के विनोद में अब 'आ' उपसर्ग का लोप हो गया है। आज का भारत यजमान की तलाश में है। विदाई ने संग्रह पर चढ़ाई की है। सरस्वती मयूर पर, विष्णु माँ की गोद में सागर की लहरों पर, शिव



बर्फीले हिमालय पर भले रहें पर मेरा मस्तक तो दाता के द्वार पर खड़ा रहेगा। विधाता के द्वार पर तो गंगा-जल मिलेगा तुलसी-दल। अब "अकाल मृत्यु हरणम्" के रिकार्ड की आवाज पर अकाल मृत्यु न हो, तभी आश्चर्य।

'क्योंकि आज मैं नीलाम पर बिकने निकला हूँ।'

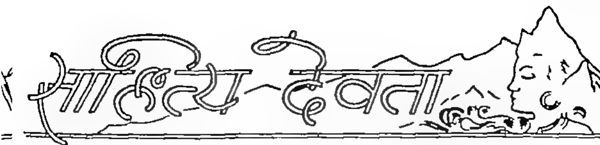
* * *

"पतिव्रता-पतिता-माता"—महत्व का कैसा मणिकांचन संयोग है। कहते हैं—ये स्वावलम्बी नहीं होते। हमने "सा विद्या या विमुक्तये" को कैसे सुन्दर ढाँचे में बदल दिया है। भैंस को दाना दो, वह दूध देगी। हमें दाना दो, हम साहित्य देंगे। भैंस स्वयं घास खायेगी हम स्वयं दास रहेंगे। भैंस के चार पाँव हैं हमारे भी ज्ञान के दो पैर और हैं। हम प्रभु को पुकारते समय कहेंगे—"पापोऽहं पाप कर्माऽहं"। यह कैसी पुण्याई है जिसे हमने "सोऽहमस्मि" से बदला है। हृदय का विश्वात्मा कहता है "गगन-गंभीर" पूजा व्याकुल विश्व कहता है—'वीर-पूजा' परन्तु मैं सुनता हूँ—'शरीर पूजा'। तब मेरी वाणी में रस क्यों हो। मेरी वीणा में स्वाद कहाँ हो। मेरी बाँसुरी में स्फूर्ति कैसे हो। साधु विनोबा की इस बात का उत्तर क्या दूँ।—

'मैं तो नीलाम पर निकला हुआ हूँ।'

* * *

यह लो क्रान्ति का आकर्षक रंग लेकर 'तरुण' परिवर्तन आ गया। साहित्य के दर्पण को वह अपने से प्रतिबिम्बित करेगा तत्वज्ञान की वाणी को अपने गर्व से गौरवमयी। वह पतन से परे का रूप आ रहा है। कल्पना, स्फूर्ति की कूँची लेकर प्रकृति को सतेज व्यक्तित्व के आकर्षक रंग में चित्रित करने उठ खड़ी हुई है। वह भूतकाल की कल्पना में से भी उत्तम



पुष्पल झूम रही है; भावी के हरियालेपन को भी प्रलय से पुष्पित कर रही है। क्या यह मेरे लिए उभरती! हाय मैं!—

'मैं तो नीलाम पर निकला हुआ हूँ।'

*　　*　　*

राजनीति नहीं चाहिए! भाषा शब्दों ही से बनी है न! शब्द बस हैं न! शब्दों के कुछ मानी हैं न! फिर 'राजनीति' के शब्दों के कुछ मानी नहीं!

भोजन चाहिए; राज्य नहीं चाहिए! शब्द चाहिए; अर्थ नहीं चाहिए! साहित्य चाहिए; किन्तु उसका आधार राष्ट्र नहीं चाहिए।

गुलामों के त्योहार, वीर्य-हीनों के बल, बहरों की वीणा, गूँगों के गीत,—नमस्कार तुझे और तेरी साध को!

इतिहास ने, इसीलिए, राजाओं और सरदारों को लिखा; योद्धाओं और सैनिकों को भूल गया। राजपरिवारों और नवाबी ऐयाशियों को लिखा, गरीबों की वेदना और बलिदान को भूल गया।

इस दिशा में कालिदास, माघ, बाण,—सब कला और लालित्य के नाम पर तेज और प्रताप के पेट में छुरा भोंक गये। सूक्तियों के पास में रूढ़ियाँ लहलहाने लगीं।

इसीलिए नई लहर की मर्म-बेधिनी लसनियाँ, शूली के द्वार तक, पतन से विकिपत लेने आ रही हैं। आश्चर्य, मैं दम भने हारूँ, बूढ़ा हूँ, मत पूज्य हूँ! मेरा वजन कूता! क्या इसलिए कि—

'नीलाम की बोली में मेरा मूल्य कूता जाता है।'

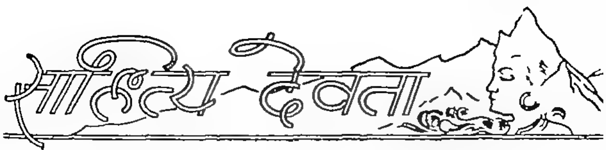
*　　*　　*

अब इतिहास, कुटुम्बों में, कलह को कर्मण्यता में बदल रहा है। देहातों और शहरों में गलियाँ और घूरे साफ कर रहा है। शहरों में समान जीवन की आग भड़का रहा है। बाजारों को पंचायतें बना रहा है। महाजनों की महानता को, देवता के प्रसाद की तरह, कल्लू नाई, रमजू धोबी और घोंघा मेहतर में मुक्त होकर बाँट रहा है। अब साहित्य, विश्व की उथल पुथल के रूप में समय का सन्देश अपनी पीठ पर लादकर निकला है। उसकी झोली में व्यास और वाल्मीकि हैं, होमर और अरस्तू हैं, तुलसी और सूर हैं, बायरन और गेटे हैं। यूरोप के तो 'क्रूसेड' भी साहित्य से इतिहास की गाँठ बाँध गये,—ग़रीबों के साहित्य और इतिहास की। ग़ोरी और ग़ज़नवी भारत की वही गाँठ तोड़ कर रख गये। इसीलिए तुर्किस्तान के कमाल की विजय को पराजय बनाने भारत के रहमू और क़ादिर की पलटन गई, और अफ़ग़ानिस्तान के अमानुल्लाह के सर्वनाश को दयचन्द के मुल्ला पहुँचे। क्यों?—

'क्योंकि मैं अपने को नीलाम पर चढ़ाये हुए हूँ।'

* * *

मेरी वाणी तो 'छुन-छुन' के मीठे बैन बोलती, नंगी औरतों से सरोवरों के पानी की नाप करती, और दिगम्बरा-बालाओं को गंगा में तैरा कर उनकी त्रिवेणी बनाती। जगत् का नाश भले हो, महाराज जगतसिंह खुश होने चाहिए। नीलामी पशु हरी घास के लिए क्या-क्या न करता। इस समस्त कीचड़ में से कमल की तरह कविवर भवभूति के पद पर पद रखकर महाराष्ट्र सन्त कवि रामदास का दास-वीर भूषण के कुछ पद्यों को लेकर आर्य-जीवन के अनार्य पतन के खिलाफ़ गूँज मचाता आया। पर शस्त्र के



मानव को शासन का दानव कब जीने देता ! राजा परमेश्वर था, प्रजा गूँगी भेड़ बनकर उसकी मर्ज़ी पर कट जाने की चीज़ हो गई। उन दिनों नाच था, रंग था; आमोद था, प्रमोद था। राजा तल्लीन था। साहित्य उस समय क्या कर रहा था ? वह इसी घिनौनेपन पर, मक्खियों की तरह भिनभिना रहा था। तिरुवल्लुवर, तुलसी, मीरा, नरसी मेहता, विद्यापति, तुकाराम और नामदेव और न जाने कितने साधक आये, जुड़े हुए हाथों और झुके हुए मस्तकों से। वे कुछ ऊँचा खींच सके, पर मुग़ल, राजपूती और हाँ, बहादुरी के सब अड्डे, पस्त हो चुके थे। तब मुझे भी विनोद, विलास और वाहवाही की ज़रूरत क्यों न होती ! इसीलिए—

'मैं नीलाम पर चढ़ा चला आ रहा हूँ।'

* * *

आज इतिहास की इस पामरता में आग लगानेवाली अँगुलियाँ आगे आ गई हैं—साहित्य के कुम्भीपाक में भी। व्याकरण और पिंगल के नियम उस समय लोगों को बाँधने के लिए ठीक रहे और अपना अधिकार आजमा रहे हैं; जब तरुणाई वाक्यों की नहीं, लौह-खण्डों की शृंखलाओं को प्राणों तक के मोल तोड़ने पर तुल पड़ी है।

अब महत्त्व की वस्तु महानता के व्यक्ति, और मदमस्त संस्थाओं को तेजस्विता के घाट उतरना होगा। ऐतिहासिक स्मृतियों, रसीली कविताओं और मनोहरा-प्रकृति को यदि ज़िन्दा रहना है तो पतित होते हुए पापियों के लिए नहीं, ऊँचे उठते हुए मस्तानेपन के लिए मसाला देना होगा। टकसाली नियमों, लक्षणों और निषेधों के उस पार भी, जगत् है, एक बड़ा जगत् है।

साहित्य देवता

उस ओर जाकर नवीन-सृष्टि करनेवाली नई रेलों और बे-मुँहों की दुनियाँ पथ न देने पर समाज को सेतु बाँधने का लकड़ी-पत्थर बना लेगी और साहित्य को पैर रखकर ऊपर चढ़ने की सीढ़ी। राज-शृंखलाओं को पहनकर भी, वह अपने पतन के खिलाफ इस पथ में आवेगी और 'भविष्य' की वीणा के समान, साहित्य तत्त्व और राजनीति के तारों को—वीणा के कान उमेठ कर भी मुक्ति का स्वर गुँजाने के लिए बाध्य करेगी। जो हम टुकड़ों के मोल नीलाम होते आये हैं क्या हम 'मरण-त्यौहार' की कीमत पर, 'अमरता' के भाव, खरे न उतरेंगे? क्या इसीलिए कि :—

'हम नीलाम पर चढ़ चुके हैं?'



साहित्य देवता

अब रसवंती बोल उठे

वे कहते हैं कि तुम मुझमें लगनेवाली गाँठ हो, किन्तु मैं देखता हूँ कि तुम तो मेरी लज्जा रखनेवाली वह चादर हो कि जिसमें गाँठें लगाई भी जा सकती हैं और उन्हें खोला भी जा सकता है। तुम चादर हो जिसे ऊँचा उठाकर मैं एकान्त में स्वरूप-दर्शन करता हूँ और जिसे सुन्दरता से लपेट कर सूरज की सौ-सौ किरणों में सर्वरूप दर्शन करता हूँ।

तुम्हारी मिठास का एक ऐसा अटूट क्रम है, जो अनन्त प्रयत्नों के बाद भी आँखों पर ऐसा झूलता-सा, हृदय पर ऐसा लटकता-सा रह जाता है कि तुमसे पर किसी स्वाभाविक, किसी महान, किसी निर्माता, किसी विस्तृत, किसी रक्षक, किसी करुणाघन, किसी दयासागर की कल्पना उदार और वात्सल्यमयी मालूम होती है। उस समय तो मेरी तुलना उस शक्कर से बने हुए ईख के खिलौने सी होती है, जिसकी मिठास से जिसका आकार जुदा नहीं किया जा सकता।

* * *

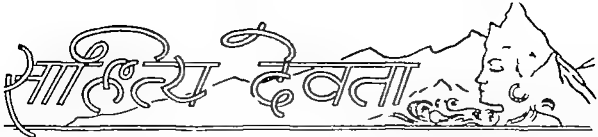
जब मुझे औरों से झिझक मालूम होती है तब मैं तुम्हें अपने [illegible] गुना लपेटकर अपने को आमको से छिपा लेता हूँ। किन्तु, जब मैं [illegible] समर्पित होता हूँ तब सिसक और झुमक के आस-पास में बनी [illegible] की झीनी चादर पहनकर अपनी ही नाप के अपने [illegible] के सामने खड़ा हो जाता हूँ। लोग पूछते हैं, मेरी वाणी कुछ [illegible] हैं। किन्तु, उस समय वह प्राणों से स्पर्धा करती है और [illegible] निर्वाणी रेखा करते हैं।

जब मेरा प्यार मुझे बालक की तरह भारी पुलकित [illegible]

उतर उतरकर पड़ा करता है तब काल के अनन्त पर्दे, उठ उठकर मेरे संकेत का स्वरूप-दर्शन किया करते हैं। पाँच महीने और पचपन बरस, इन दो कठोर अन्तरों को रखकर भी छोटा-सा खिलौना, नन्हा-सा बच्चा समय की बड़ी-सी गठरी की गोद में खेल सकता है और उसे माँ कहकर, उससे अलग उत्पन्न होकर भी उसकी गोद से, उसके हृदय तक अस्तित्व की एक सीधी रेखा खींच सकता है तब मेरे पथ में रुकावट कैसे खड़ी हो सकती है।

* * *

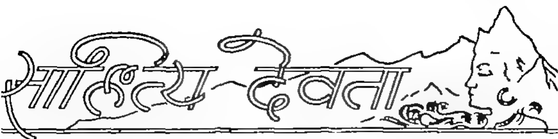
तुम्हें रश्क होता होगा, अनजान बटोही! कि कितने स्नेह से सना होगा मेरा मार्ग! पर तुम क्या जानो कि मैंने पाकर कुछ नहीं पाया, खोकर पाना ही मेरे विकास का इतिहास है। यह मार्ग की धूल बिखेर कर और रूपे-सा अमृत चाँद के कटोरे में भरकर तुम किसका स्वागत करने आ रहे हो! अन्तर के वैभव के सम्मुख यह सारी देन भिखारिन है। अन्तर के अम्बर पर सूरज और चाँद दोनों ही दो काले धब्बे हैं। मुझे तो संकेत वहाँ बुलाया करता है जहाँ प्रकृति का पागलपन रहता है, वहीं मस्त आ। मेरे पथ का द्वार नहीं होता और यदि होता हो तो वह बन्द ही होता होगा। मेरे सम्मुख आनेवाली रुकावट ही मेरी सावधानी है और उससे टकराकर मेरे मस्तक पर आये हुए घाव ही वह वेदना देते हैं जिससे उत्पन्न होनेवाली उसासों को एकत्र कर, मैं भावों के शरीरविज्ञान का इतिहास बनाया करता हूँ। मेरा प्रियतम आसमान के महलों में छिपकर नहीं बैठता, वह योगियों के मन-मन्दिरों का भी मुतलाशी नहीं। वह तो यहीं रहता है। इधर से आता-सा और उधर से रूठकर जाता-सा। मैं उसे प्रतिक्षण अनुभव करती हूँ। मेरा दिलदार क्षितिज के परे ही नहीं किन्तु वह उम्र के परे भी निवास करता है।



उसे नन्हा देखकर, उसकी तोतली बोली सुनकर और उसे घुटनों के बल आँगन में जानकर सूर को दीखने लगता है और तुलसी पूज्य से मनुष्य बन जाता है।

*　　　*　　　*

किन्तु आज तो मैं तुम्हारे दरवाज़े आया हूँ। अनजाने-से तुम, ज़रा छोटे-से बनकर बैठ जाओ। युक्ति के खम्भों से सधी और विनोद के तिनकों से लदी तुम्हारी झोंपड़ी में, मैं चाहता हूँ आज तुम हो और तुम्हारे सिवा और कोई न हो। मैं सहृदय युग की बुद्धि की जीभ बनकर तुम्हारी कृतियों की मिठास का स्वाद लेने आया हूँ। बोल दो, एक बार बोल दो। यह तो समय का काम होगा कि वह उसे अनन्त-युगों तक देख ले और बीमित साँसों का काम होगा कि वे उसे दुहरावें। बिना पैरोंवाली अपनी उस वाणी को, ज़रा नगाधिराज के मस्तक पर चढ़ने दो और उद्दण्ड आनन्द खोजियों को आमंत्रित करो, कि वे तुम्हारे आँसुओं में बहकर आनेवाली अन्तर्वेदना की मिठास में न डूबने का प्रण करके आवें। वे मर्यादा की क़सम खाकर घर से चलें, और मेरे प्यार! यह उठा एक बार! और जादू से पलटकर 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' का एक संसार बसा दो। जेलखानों में बन्द होकर, आलोचनाओं की चहारदीवारियों में बंद होकर, नहीं, भला के काँटेदार तार तुम्हारे चारों तरफ़ घर की तरह लग जाने के पश्चात् भी, ज़रा दशरथ बन जाओ, राम के पिता! और अपनी बन्धनमुक्त कल्पनाओं के रथों से भावलोक की दसों दिशाओं का कोना-कोना खूँद डालो। वह रथ ऐसा हो ऐसा सुन्दर हो, कि तुम्हारा युग यदि उसमें बैठकर सैर-सपाटा न कर पावे, तो नित्य बढ़ते जानेवाले चन्द्र की तरह वह उस दिशा में बढ़ता



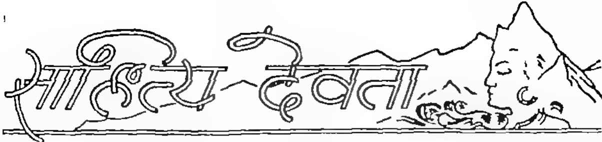
अवश्य चला आवे। लिखा पढ़ने दो कुछ को कि तुम्हारी वाणी उद्दण्ड है, परम स्वतन्त्र है, पर रूढ़ नहीं है। तुम अपने द्वारा निर्मित ज़माने की वाह को भी अपने मन्दिर पर चढ़ने की सीढ़ी बना लो, और आह को भी, प्रहार को भी, उपहार को भी। उस के परखों से कह दो, कि तुम इतने नन्हें हो कि तुम्हारा अपमान नहीं हो सकता। किन्तु, एक बात और कह दो— ज़माने के तुम निर्माता हो, तुम ही निर्माता हो।

* * *

तुम्हें पता रहे कि बोली ज़बान के घाट आकर कुछ और होती है और क़लम के घाट कुछ और। ज़बान की पनिहारिन, दिग्विजय की वायु-तरंगों पर चढ़कर, बन्धनरहित रूप से दौड़नेवाली ध्वनि है। उसमें सौ खून माफ़ हैं। किन्तु वह अभी अभी है, और अभी नहीं है। किन्तु, तुम के कँटीले पौधे में से जब कलियाँ चटककर क़लम पर आया करती हैं, तब वे कितनी ही बार क़लम होकर ही आया करती हैं। प्रतिभा की नव-वधू, स्याही से सास जैसा और काग़ज़ से ससुर जैसा भय मानकर पद-निक्षेप किया करती है, किन्तु वाणी की स्वच्छन्दता में जितना क्षार मरण है, स्याही और काग़ज़ के भय में अनन्तकाल को बेध सकनेवाली उतनी ही महान् अमरता है। वे धन्य हैं जिनकी बोली, हवा पर से भी, अमर रहने का काग़ज़ों पर उतर आती है। किन्तु ज़बान की स्वच्छन्दता पवन का ठोस नहीं है। ज़बान से उतरना ही वह चाहिए, जिसे यदि युग काग़ज़ पर उतार दे तो वह अमर हो उठे।

* * *

खुले हृदय के स्नेहियों के आकर्षण का संकेत ही ऐसा होता है कि जिससे हम आँखें रखकर भी सूरदास बन जाया करते हैं और हृदय का



खज़ाना लुटाने उठ पड़ते हैं। यह सोचकर कि हमारी ईमानदारी से गुज़रकर आनेवाले पागलपन को, हमारी ही तरह, हमारा श्रोता भी भूल जायेगा। भाई मेरे, चाहे पागलों की कमी से हो, चाहे मूर्खों की अधिकता से—ऐसी दुनियाँ बड़ी नहीं हुआ करती।

इस दुनियाँ में तो आकार ही होता है विस्तार नहीं। यहाँ साँसें ही गिनी जाती हैं मनुष्य नहीं।

उन्हें भोजन में आनन्द है; वे मनुष्यभक्षी तुम्हें भी खा जायेंगे; पर तुम्हारा तो भोजन ही आनन्द है।

उल्लास और उच्छ्वास तुम्हारे आनन्द की ऊँची और नीची लहरों के नाम हैं। तुम्हारी दुनियाँ छोटी है क्योंकि ज्ञान के काँटों पर सांगों से उन्माद के पुष्पों का बोझ नहीं सँभलता। 'गँवार'—लोगों की ज़बान पर साधारण शब्द है। किन्तु, सच तो यह है कि हम गँवार होना ही भूल गये।

हम तो तभी तक हम हैं, जब तक हमारी गँवारी हमारा बचपन अपनी कराती तरुणाई पर हमारे पास रह सके। प्रतिभा का पौधा, इस नन्दन को खोकर, कहाँ रहेगा! कल्पनाओं का खज़ाना अपनी बन्धनमुक्ति के लिए कौन-सा स्थान ढूँढ़ेगा! परन्तु इस दुनियाँ का, तुम अपने का पता दो, अपनों ही का पता दो। मंचों पर, रंगमंचों पर, इस जगत् को मत खींचो।

वेदियों पर तुम स्नेह की स्वाभाविक सतह का मत हिसाब जुटाओ, वहाँ तो तुम मर्यादा के बन्दीखाने का ही द्वार खोलो। उस समय तुम्हारे स्नेह, तुम्हारे बचपन, तुम्हारे अज्ञान और तुम्हारे युग के अटपटेपन का नाम रख-रखकर और तुम्हारे मस्ताने चालों को भूलने और मिटाने का अधिक-व्यापार बलपूर्वक चलाने के पश्चात् भी, युग का शृंगार सजान

→ अब रसवती बोल उठे

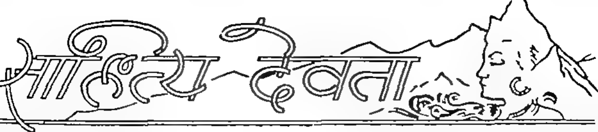
वाली, युग के सिपहसालार की ज़रूरत पूरी करनेवाली, तुम्हारी कृति की अनन्तराशि उनकी स्मृति के द्वार पर पड़ी रह जानी चाहिए।

वे तो मज़दूर हैं। उनकी कठोरता की चलनी से छाने जाने के पश्चात्, सौदे में समय देनेवाले, तब खुश होना चाहते हैं, जब उनकी बुद्धि के पल्ले, उनकी वाजिब मज़दूरी से अधिक का माल पड़ जाये; और वह माल भी अक्षुण्ण, देवताओं का प्रसाद न हो; उनके रुचने और हज़म होनेवाली वस्तुएँ होनी चाहिए। तुम्हारे विनोद में, तुम्हारे आँसुओं में, तुम्हारे मरण में भी वे सौदागर ही रहे हैं, सौदागर ही रहेंगे।

* * *

तुम्हारा हृदय-रस कभी पराजित न हो, किसी की 'आह' और 'वाह' पर उसे बिकने देना तुम्हें स्वीकार न हो। किन्तु, उसमें वह सरसाई ज़रूर चाहिए, जिससे भोले से-भोले भाव तुम्हारी कहन को अपने हृदय की गाँठ में बाँध लें, और एकान्त की याद की रगड़ लाकर, जब तुम्हारी कहन उनके जी में घुलने लगे, तब उसमें स्नेह और साहस का ज्वार आ जाये। तुम्हारी विजय यह होगी, जब मूसन का उदार सौदा करनेवाले राहगीरों में, तुम्हारी कहन ऐसी मतवाली, ऐसी भारी तादाद में, मस्तानगी के साथ रह जाये कि अपने अस्तित्व के क्षणों में वे उससे जुदा न हो सकें, और पीढ़ियों को तुम्हारी कहन का खज़ाना सौंपने में अपने को गरबीला अनुभव करें। यही तुम्हारा गर्व होगा, जिसे यदि, तुम्हारे युग की पीढ़ियाँ—तुम्हारी ही पीढ़ियाँ हुईं तो,—सरस्वती के मन्दिर में अपने अस्तित्व के बूते, उस पुजन का त्योहार मनाने आवेंगी।

* * *



नभोमण्डल पर, ज़रूरत नहीं कि तुम नक्षत्रों की तरह बँधी घड़ियों और बँधे दिनों में आओ, और तारुण्य में जन्मते ही, तुम्हारा विज्ञापन हो। तुम सर्वनाश के नहीं सर्वप्राण के भूकम्प बनकर क्यों न आओ! पेज गिनने वाले प्रकाशक की पुस्तक के पन्ने बनकर आने के बजाय, तुम अपने ज़माने की उथल-पुथल के सन्देश-वाहक बनकर क्यों न आओ! उन्माद बनकर आओ, इतिहास बनकर लौट जाओ। तुम्हारा स्वागत करनेवाले बरस, अचम्भा करें कि तुम विश्व में किस द्वार से आये और किस जीने पर चढ़कर लौट गये।

*   *   *

तरुणाई और प्रतिभा ये दो वस्तुएँ नहीं, किन्तु एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

तरुणाई प्रतिभा की जननी की गोद है। उम्र के उतार में प्रतिभा तरुण रह सकती है और अमर अलहड़पन के साथ बढ़ती जा सकती है किन्तु उम्र के द्वारा जीवन के छोटे-छोटे हिस्से होना शुरू होने के बाद, प्रतिभा अपने जन्म का प्रथम दिन मनाने नहीं आती अतः तरुणाई को गिरफ्तार करो और उसमें अपने जीवन-क्षणों का भार सौंप दो। बढ़ती हुई जवानी के हृदय और बुद्धि के संयुक्त तत्व को यदि 'तुम' नहीं पकड़ते, तब फिर तुम्हारे आगमन का नाम ही क्या है? जी का दीपक जगमगाता रहे!—भरे ही उसमें संकटों का तेल पड़े। इतिहास की आँखों में ज़रा भविष्य को देख लो; और अपनी आँखों में अपना ज़माना देखो। दरिद्रता, दासता, रोग, संकट, कारागार, निर्वासन

आक्रमण और अत्याचार इन्हीं गहनों को पहिनकर युग की मस्तानगी आज़ादी, उत्थान और कविता बनकर आती रही।

* * *

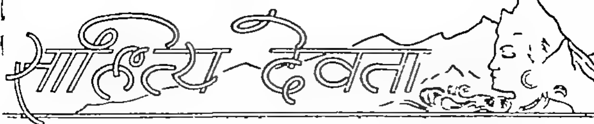
सीमा रखनेवाले मानव, तुम निस्सीम का नाम लेकर उसे कलंकित मत करो। कलम चूमो उस दिन, जिस दिन उन्मेष से या वेदना से, तुम्हारा रक्त आँसू बनकर और तुम्हारे आँसू रक्त बनकर उतर रहे हों। तुम मत बोलो; बोलने का काम करने वाले काम का बोलना नहीं चाहा करते। तुम मत बोलो—क्योंकि तुम भूतकाल को पत्थर समझकर और भविष्य को महज़ कल्पना मानकर वर्तमान के ज़हर से ज़हरीले हो। चाहें यह जिनकी केवल बीन नहीं केवल आँसू नहीं केवल स्मृति नहीं केवल बुद्धि नहीं, किन्तु इन सबको साथ लेकर जिनकी बेअख़्तियार रसवंती बोल उठे।

* * *

अरे, लकीरें गिनते हो! घास ने जंगल हरियाला करके भी एक भव्य रूप पृथ्वी को नहीं दिया। युग के आचार्यत्व के दावी, हरियालेपन की भूल भुलैयों में, दिमाग़ी-पशु विचरण किया करते हैं, पीढ़ियाँ विचरण नहीं करतीं। विधाता की बेअख़्तियार फेंकी हुई बखेर का चूरा समेटकर चरागाह हरियाले किये जा सकते हैं, और सारे समुन्दर भरे जा सकते हैं किन्तु मानवता के मस्तक उनपर नहीं झुका करते। कवि, सेनानी और सन्त बनाने के लिए तो, मस्तिष्क की तलवार पर अपने अन्तर का ही पानी चढ़ाना होता है।

* * *

फूलों की तरह सूखकर गिर जाने के लिए क्यों जन्मोत्सव मनाये जायें और क्यों मरण त्योहार!



मिट्टी में मिल जानेवाले दाने, उपज की हाड़-हाड़ी का खेल खेला करते हैं और ब्रह्माण्ड में चमकने वाला नक्षत्र अपने आस-पास के अनेक नक्षत्रों की गति-विधि का संचालन करता है।

रेवा का कल-कल, कली की चटख, पैंजन की रुनझुन, बाँसुरी की तान, मृदंग की धुमक, वीणा की मिठास और गम्भीर बादलों की तरह बिजली के वार के साथ, बादल की प्रलयंकर हुंकार और इसके पश्चात् आँसुओं की तरह बेकार, असहाय, रिमझिम-रिमझिम गिरकर, पुनः अपनी मातृ-भूमि की गोद में गिर पड़ना, यह एक ही कवि के अनेक अवतार हैं।

* * *

तुम्हारा दिलबर, तुम्हारी कविता, तुम्हारे आँसू, तुम्हारा चुम्बन, उस स्फूर्ति में निवास करता है जो तुम्हें प्राप्त हुई हो और जो तुम्हारे द्वारा प्राप्त हुई हो।

तुम्हारे स्फूर्ति प्रदाता से बढ़कर भी यदि तुम्हारे पास कोई काव्य, कोई ईश्वर, कोई प्यार, कोई दुलार बाकी रह जाय, तो ईश्वर के लिए, तुम सब कुछ कहला लो, बेचारे कवि शब्द को पनाह दो।

यदि आशिकी में तुमसे दीवारें न लाँघी जा सकती हों, और दिलदार के पूजन में पुष्पों की तरह रक्त बिन्दु न चढ़ाये जा सकते हों तो तुम सब शास्त्रों को छू लो किन्तु, वीणा को हाथ मत लगाओ।

तुम समुन्दर बाँध सकते हो, वटवृक्ष के नीचे महाव्याधि बनकर समाधि ले सकते हो, क्रास पर टँग सकते हो पर भाई मेरे, तुम नन्द-नन्दन नहीं कहला सकते। लोग मुकुट लेकर नन्द-नन्दन बनने आते हैं, तुम्हारा तो नाम ही नन्द-नन्दन है। भूख का भान और नींद की भाषा ग्रहण न करनेवालों का

→ जब रससर्वमी बोल उठे

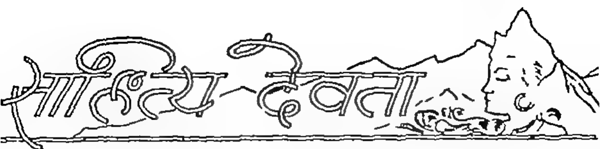
सा०—१

दिलदार कहीं आया करता है; न कवि कहीं आया करते हैं। हाँ भूलों की वेदना जिस दिन उनके हृदय से चढ़कर आँखों पर आती और आँखों से मुख पर उतरती है उस दिन वह ज्वाला, एक ऐसा भूकम्प करती है जो बड़ी और छोटी, कीमती और बेकीमती महत्ता को धूल में मिला देती है, और, सोने और चाँदी के लादवाली उस जमीन पर वह मस्तानी तरुणाई युद्धक्षेत्र और हवाई जहाज 'बोया' करती है।

किन्तु, न वह राजनीति होती है न धर्म-शास्त्र। उसका तो अपनी ही लहर-बहर का सौदा है। जिसकी वेदना में भी मिठास आती है उसके प्रलय की मिठास भी निराली होती है।

उसकी वीणा के तारों में वह, तारे पिरोकर मिजराब मारता रहता है, क्योंकि कुछ बेचैन-सा, कुछ पागल-सा, कुछ पत्थर-सा, कुछ उतावला सा; कुछ खुली आँखों उमड़ता-सा, कुछ मुँदी आँखों से देखता-सा; कुछ त्योहारों पर रोता-सा, कुछ मकतलों में मुस्कराता-सा; अपनी कलम के काले आँसू, सूरज की किरणों को सँवारने के लिए वह टपकाता ही उस दिन है, जिस दिन उसकी रसवंती जाग उठती है।





वसुधा का पालतू काव्य

मौसम में उत्पन्न होनेवाले वृक्षों, फलों और जीवधारियों की तरह मौसम में उत्पन्न होनेवाली कला चिरकालव्यापित या अमर नहीं होती; वह क्षणजीवी होती है। मौसम बदला नहीं, कि वस्तु मरी नहीं।

कला कभी बहुत ऊँची हो जाती है, वहाँ वह वृक्षों की फुनगियों व पिरामिडों और वहाँ से पक्षियों और वायुयानों से बातें करती हुई नक्षत्रों तक पहुँचती है। कहीं कला बहुत गतिमान, दौड़नेवाली होती है, वह अपने प्रकटीकरण के विस्तार में, नदियों और पहाड़ों को लाँघकर पहुँचती हुई बड़े बड़े समुद्रों को लाँघकर समझ सकने, या समझ रखने के अन्तिम छोर तक पहुँचती है। कहीं कला अत्यन्त गहरी होती है—वह मणिधरों की तरह, गहरी-से-गहरी अँधेरी गम्भीरता में उतरकर अपनी पहुँच का प्रकाश, ज़मीन पर डालते हुए मानव के पास तक पहुँचाती है। कहीं कला, कोमल भाव व रंगों के जल की गहराइ में उतरते-उतरते अपार रत्नों को लाने में सफल होती है, जो इस युग के धनों से नहीं नापे जा सकते। किन्तु इस ऊँचाई, इस गति, इस गाम्भीर्य और इस गहराइ के अत्यन्ताभाव में भी प्राणवान कला का निवास है। 'अ' को अक्षरतम कहा है और काल तथा कला में केवल 'अ' अक्षर मात्र अपना स्थान बदल लेता है। कला तो समय के काल का माप है।

चूसना, हजम करना, साँस लेना, देखना, सुनना, चिल्लाना, बदन का सिकोड़ना, बदन फैलाना, रग-रग में रक्त पहुँचाना,—ये बातें, मानव को किसी स्कूल में, किसी शिक्षक के द्वारा नहीं सिखानी पड़तीं। कहते हैं, यह

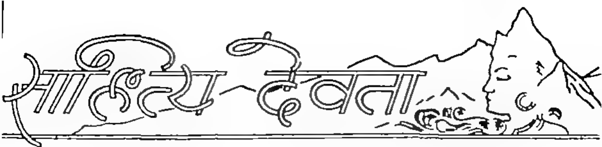
जाते मनुष्य, स्वभावजन्य करता है। तब कम-से-कम हमारे कथन, हमारी वाणी, हमारे साहित्य में तो रस, ग्रहण शक्ति, जीवन या ताज़गी, दृष्टि-क्षेप या अप्रत्यक्ष तक देखने की शक्ति, विश्व के हृदयों, भावों और घटनाओं की तथा अंतरतम की ध्वनि, विश्व की और परिस्थिति की कराह या चीत्कार, ज़रूरत पर विस्तृत हो जाने और परिस्थिति में सिकुड़ जाने की शक्ति, पहुँच के विस्तार में भौगोलिक और मानव-धारणा के बन्धन लाँघ जाने का बल और माला बनाते समय फूलों के कलेजे में से जानेवाले डोरे की तरह वस्तु वस्तु में व्याप्त हो जाना, यह गुण तो हमारी रचना में 'इन्स्टिंक्ट' से—स्वभावजन्य—आने चाहिए।

भोंकना, चाटना, दुम हिलाना, रोना, कराहना, चीखना आदि भी से अधिक होनेवाली क्रियाएँ भी हम अपने आप ही करते हैं, किन्तु इन पर जीवन-यापन करना, साहित्यिक का, अपने पूर्व-पुरुष, पशुओं की विरासत अधम रचना ही कहा जायगा।

जब से झाड़ों पर चढ़ने की आदत छूटी, तब से हमारी कल्पना ने हरी-हरी सफल डालियों पर लम्बी छलाँग मारना भी छोड़ दिया। अब हम बनी हुई सड़क पर आराम से चलते हैं। लीक-लीक! सुपुप या छूटे!

हाथी और घोड़े झाड़ों पर नहीं चढ़ते, किन्तु हम प्रयत्न से चढ़ सकते हैं। यानी हममें 'स्व-भाव' तो है किन्तु छलाँगें मारने का अभ्यास भर छूट गया है। स्वभाव के परे अभ्यास को पहुँचाकर हम प्रथम-जन्मा नहीं हो सकते?

दुनिया [illegible] विषम-पठार में पशु-पक्षी, पेट के बल रेंगनेवाले और कीड़े मकोड़े सब चलते हैं। क्या हम इसी तरह ज़िन्दगी बिता देंगे? क्या हम



परिस्थितियों को खुद उत्पन्न कर उन पर जीनेवाले 'मानव' 'नहीं' हो सकते। फिर हमारी क़लम से तो वर्षा-पतित, भूमि-दूषित जल ही निकलेगा—चाहे किसी रूप में निकले। उसमें से रक्त, और जीवन-रस क्यों टपकने लगा!

पशु गर्मी, सर्दी और वर्षा—लाचारी से सहता है; किन्तु मानव अपने जीवन के तापमान का नियमन करता है। वर्षा, शरद और ग्रीष्म में वह अपने शरीर और रहन-सहन में स्वयं तापमान का नियन्त्रण और निर्माण करता है। तब बुद्धि और जीवन के जगत् में तापमान निर्माण न कर सकने वाले यदि पशु-जीवन न बितावें तो और कौन-सा जीवन उनके लिए शेष है! तापमान निर्माण करने के पथ में, मानव ने पहले आगी ढूँढ़ी। प्रकृति के अनुकूल, अपना मौलिक तापमान ढूँढ़ने के लिए, मानव ने आग बनाई। शरीर की गर्मी ही ने उसे सिखाया होगा। क्या हम भी साहित्य को मौलिक, अमर, दीर्घजीवी बनाने के लिए, अपने अन्दर और बाहर के तन्तुओं की रगड़ से आग बना सकते हैं। मुझे जीवन को तो अस्तित्ववान मरण ही कहना पड़ेगा।

मनोभावना के चढ़ाव-उतार की मौलिकता को सबसे बड़ी हानि पहुँचाई हमारे चढ़ाव-उतार रहित जीवन की नास्तिक सुविधा ने। कठिनाइयाँ उपजा कर, उनसे विविध बाधुओं से खेलकर, न जाने हममें कौन सी शक्ति, कौन-सी प्रेरकता, कौन-सा आविष्कार जागता। किन्तु खा, पी और मौज से रहने की पतित मनोवृत्ति ने, विचारों की क्रियाशीलता को जन्म देने के बजाय विचारों की ऐयाशी को जन्म दिया। विचारों के प्रगटीकरण में हम चिन्तन चाहते कि समाज साहित्य, धर्म, तथा राजनीति—किसी क्षेत्र में संकट खड़े करना ही नहीं चाहते। परिणामतः हम आये हुए संकटों के प्रारम्भिक

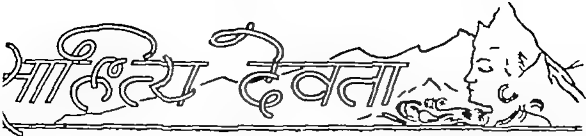
पहाड़ों ही में प्राण दे बैठते हैं। सुविधा और आनन्द के नामी भौतिक भाषा में हुए ऐयाशी और नास्तिकता।

आगी से दियासलाई, फिर दिये या मोमबत्तियाँ, फिर गैस, फिर बिजली—हमारी आविष्कृत मूल अग्नि के शोध पर, कैसे कठोर अग्नि-संस्कार। परिणामतः भोजन, भजन, भागना, मरना, मारना, सब कुछ मशीनों से होने लगा। हृदयवान मानव के नाश का, विकास कहा जाने लगा।

थरथराते हुए, यदि कहीं दूर जंगल में आग सुलगती दीखी। वह लाल पीला-सा प्रकाश। और बिना रास्ते की प्रतीक्षा किये चल पड़ा मानव उसी ओर। उसने लम्बाई से मुड़ना, ऊँचाई से चढ़ना जाना, जब राह में नदी या पहाड़ मिल गया। फिर साँप, शेर, काँटे, खंदक—सब तो पुरुष के पथ में—जिसमें पुरुषार्थ निखरा। उस दूर दीखनेवाली आग में, फिर उस बीहड़ मार्ग में, फिर शीत की आधी रात के समय, एक किरात-वृद्धा की झोपड़ी के आँगन में हाथ सेंकने के लिए अंगारों के मिलन में—एक-एक में कितना काव्य। पनचक्कियों में गैस के चूल्हों में और बिजली के वाहनों के नीचे—हमारा काव्य न जाने क्या हो गया। जब हम कविता-पंक्ति में यदि तलवार का नाम लाते हैं तो हमारे नर और सुकोमल हाथ, हिलती कमर और घुँघराले लटकते बाल मानो हमसे आगे कहने दौड़ते हैं—

"डरना मत मुए, यह तसवीर की तलवार है।"

हम डिक्शनरी का पहाड़, मात्राओं की नदी, और चल-चित्रों के पर्दे, अपनी रचनाओं में लिखते-लिखते, यहाँ तक पहुँचे कि भावों की रगड़ से भावों के टुकड़े चुराने और औरों के भाव कुशलता से परोसने ही को अपनी प्रतिभा कहने लगे।



हमने अपने जीवन का अधिक भाग ना-काफ़ी महत्त्व की चीज़ समझ कर बिता दिया। और चिन्ता और सुध आई तो शक्ति और साँसें ना-काफ़ी रह गई थीं।

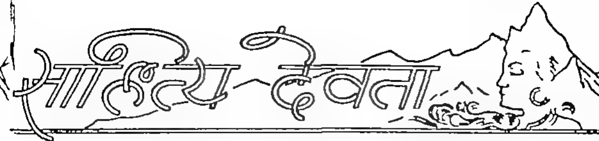
प्रतिभा हीनता में हम अपनी योग्यता की कमी अपने आतंक द्वारा पूरी करते नज़र आते हैं। उस समय जो भारी शब्द बोलते हैं, वे भी हमारे अपने नहीं होते, अतः उन्हें रहस्यमय, दो अर्थों या अनेक अर्थोंवाला बोलने लगते हैं।

हमने मछली, कछुए, शूकर—न जाने किस-किस में, अपने प्रभु की कल्पना की। किन्तु हम भूल ही गये कि ये हमारी पहुँच के अवतार हैं—जल, थल और न जाने कहाँ-कहाँ के पथ-गामी। किन्तु हम तो रेल के डब्बे में, दाई द्वारा पैदा कराये गये हैं। किसान की-सी विस्तृत, मल्लाह की-सी गम्भीर, वायुयानी की-सी ऊँची नज़र हममें आवे कहाँ से। तिसपर भी हम हैं साहित्य के आचार्य ही।

यही क्यों, नित्य की कठिनाइयों में रहकर, पुरुषार्थ को शरीर पर उतारने का उदाहरण स्तनपायी पशु-पक्षियों आदि को भी हमने मानवत्व प्रदान किया। उन्हें पालतू बना डाला। वे इस बात के उदाहरण हैं कि पालतू साहित्य कैसा होता है। तोते सीताराम बोलें—पर पिंजड़े के खुले द्वार से उड़ने की शक्ति ही नहीं। मछली कुँए में डालकर तैर-तार भले ही ले, किन्तु मालिक ने जब चाहा पकड़ कर मार ली, या कुँए का पानी सूखा, और वह उसमें पड़ी बीचों पानी को रोती। बैल हो या गाय शाम को खूँटा ढूँढ़ता चला आये। घोड़ा अपने पर चढ़नेवाले का कोड़ा मुँह में लेकर, अहर्निश मगन पाल के आगे

घास खावे। हाथी, रोट का मुहताज और अंकुश से बे-बस। यह वसुधा का पालतू प्राणी है, जिसकी रचना मानव ने की है। तब उसकी दिमागी कृति के विषय में अधिक क्या कहा जाय। उसे एक ही विशेषण काफी है—वह पालतू' चीजें सिखता है। तब कला की दुनिया में पर्वतों से कौन टकरावे, नदियों का प्रवाह किससे थमे, और नक्षत्रों से कौन खनापूछी करे।





असहाय नाश या अमर निर्माण

यदि तुम्हारी बहक मौजी मन की तरंग होती, तो तुम माफ किये जा सकते थे। हानि-रहित और आनन्दोत्पादक उथल-पुथल का ही तो विनोद कहेंगे। किन्तु जहाँ घूमता हुआ पशु नहीं घबड़ाता, ऐसे सुनसान में मानव घबड़ा उठता है।

विचारों के आवाहन के एकान्त में हम किससे घबड़ाते हैं? क्या अपने आप से? नहीं तो किससे? फिर जो भय रात में है, वह दिन में नहीं? और यह हमारा शोक, वर्षानुवर्ष शोकसभाएँ और याद करना? इसके बाद, यह मानव का मानव के द्वारा संगठित नाश; और प्रभु की इच्छा पर, इस नाश की सहमति का आरोप। ये सब बातें कह रही हैं कि इन वस्तुओं की दूसरी बाजू है। वह यह कि हमारे हाथ में रहनेवाली कलम पर जो उतरता है, वह इसी घबड़ाहट, इसी शोक और इसी रक्त-पिपासा के समर्थन में निकलता रहता है। भय की कमी, हमें हर्षित करती है और उसका अभाव हमें सुखी। शोक से बाहर निकल आना हमें हर्षित करता है और कभी भी शोक न होना ही हमें सुखी। 'खून बहाने योग्य' का खून बहाना हमें हर्षित करता है और उसका कभी भी सिर न उठा सकना हमें सुखी।

किन्तु परिणाम के सुख में हममें जो कायरता आई उसी ने हमें घबड़ाता हुआ, भयाकुल शोक-पूर्ण और खूनी बना दिया। यह हुई एक बाजू।

यह काम्य चाहे दैवी न होकर राक्षसी हो, किन्तु कुछ तो है।

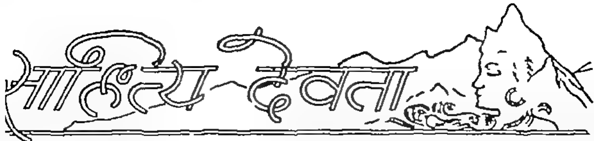
मंज़िल न हो, किन्तु मील का पत्थर तो है। जिनकी क़लम पर वह उतरता है, उनकी क़लम पर कुछ तो उतरता है। मानव, 'अपने मन का'-सा कुछ तो ऐसी रचना में पाता है। किन्तु अब हमारा विश्वास देखो कि विश्व की गुत्थियाँ न सुलझा कर, हम 'क्रासवर्ड पज़ल' का-सा साहित्य लिखने लगे।

यदि पर्वतों से टकराने से मानव घबड़ाये, नदियों का प्रवाह रोकने में लगने वाली चोटों से उसे क्षोभ हो और नक्षत्रों की ओर अपने से ऊँचे उठनेवाले का वह स्पर्धा में खून पीने दौड़े, तो फिर क़लम किसके हाथ में दी जावे?

और क़लम हाथ में लिये बग़ैर काम तो चलेगा नहीं। जगत् में मानव चाहे पशु की तरह उपजाये गये हों, किन्तु नई वस्तुएँ निर्माण कर मानवों ने विधि के विधान को अपने हाथ में लिया और उसमें विषमता उत्पन्न कर दी। हम मीठा-कड़वा ही नहीं, उपयोगी-निरुपयोगी समझने-समझाने लगे। ज़मीन से सीता हुई या नहीं हुई, किन्तु वाल्मीकि की क़लम से जो सीता पैदा हुई, उसने समूची जाति में घर-घर, कम या अधिक प्रमाण में, उत्पन्न होना आरम्भ कर दिया।

हमने रथ लिखा था कि मोटरें, रेलें आ गईं; नाव लिखी थी, कि जहाज़ चल पड़े, और पंछियों को देखकर पतंग उड़ाते थे कि हवाई जहाज़ सर पर मँडराने लगे।

जब हम जीवधारी थे तब हमें चाहे विधाता के विश्व ने बनाया हो, किन्तु मानव होकर अपनी क़लम से हमने विधाता का विश्व बनाना शुरू किया। अब या तो हम, विश्व के उचित स्रष्टा, उचित विधाता, उचित निर्माता बनें, या फिर विश्व का बोझ न उठा सकनेवाले कमज़ोर मन होकर



विश्व को फिर जीवधारियों का विश्व हो जाने दें, प्रतिभा की सतह पर उसका नाश कर दें।

आज के क़लम बन्द! बोलो तुम्हारा नाम क्या है! असहाय नाश या अमर निर्माण। मानो कि अब तुम्हारी मर्ज़ी पर कुछ नहीं छोड़ा जा सकता। तुम निरंकुश रह सकते हो, निरंकुश बर्दाश्त किये जा सकते हो, निरंकुश जीने दिये जा सकते हो, प्रतिभा की अपरिमित दौड़ की दिशा में, प्रतिभा के अभाव की ओर नहीं।

हर माता, माता है, यदि वह जननी है। और यदि जननी है तो प्रेम के अतिरेक और मातृत्व के दावे के बावजूद प्रसव की वेदना और संगोपन का कारागार निश्चित है।

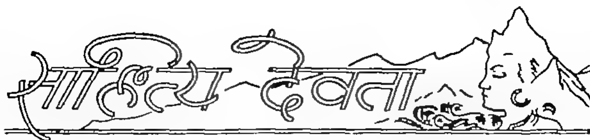
यदि साहित्य के तुम जनक हो, तो बोलो, अपने गर्भ से जापानी खिलौने बनोगे, अथवा अमर मानव का अमर अस्तित्व!

प्रारम्भ का प्रसव, मानवता का प्रथम संस्कार तो तुम्हें नहीं लिखना। जिस तरह, हर त्यौहार पर जातीय संस्कारों और युग की मानव धारणाओं के तह जम जाते हैं, और वह सहस्रों मर्ममरे हो उठते हैं, उसी तरह क़लम के पथ में अनंत युगों के दशरथ ने, दशों दिशाओं के द्वार खोल रखे हैं।

गगन-विहारी! अब तो तुम्हें गगन-विहारी नर हो जाना है।

जीवधारी मानव उठा था, और उसने आग और झाड़ ढूँढे थे। वह पाँव के बल चलता था। जैसा कि विनोबा कहते हैं—घरन्दा, चक्की और चूल्हा, प्रारम्भिक मानवता की मानव को दी हुई विरासत है। किन्तु एक दिन पाँव के साथ, मानव का सिर या दिल, या दोनों, चला।

सौ-सौ बरसों के सहस्र-सहस्र तहों में से झाँक कर देगा, सिर के



विचारों की एक सुनहली जंजीर-सी लटक रही है, जिसका नाम तुम्हारी सृष्टि, तुम्हारा निर्माण, साहित्य, कहा जाता है।

उस दिन बाहर झाँकते-झाँकते, हमने भीतर झाँका था। साँस से गुज़र कर चलते-चलते हम दिल में गये थे। और एक गाँठ खोल दी थी। उसी दिन से हमें खुली आँखों दीखते-दीखते, मुँदी आँखों भी दिखने लगा।

उस दिन, साँस में से गुज़रने के लिए, हमारे मन में 'क्यों' का उदय हुआ था, और साँस से लौटते समय, हम अपने साथ 'इसलिए' लाये। यह हमारी, जनम जन्मों की आग थी। ये हमारे चूल्हे और चक्की थे। माना कि हमारे 'क्यों' ने रात और बेरात नहीं देखा और हमारा 'इसलिए' ज्ञान के नाम पर सर्वनाश और प्रलय भी लाया।

मानव पुनर्जन्म माने या न माने, किन्तु साहित्य तो पुनर्जन्मा रहा और फिर रहा। किन्तु ज्ञान के नाम पर नाश लाना भी, ज्ञान ही लाना था। यह विलायती जूते बनाने वालों ने नहीं जाना हो, किन्तु प्रतिभा ने जाना। क्योंकि विष की शोध करने वालों को गाली देने वालों ही ने फिर विष के अमृत की तरह उपयोग के शोध किये।

ठीक भी है, कोलम्बस की यात्रा ही में मौलिकता थी उसके अमेरिका मिलने में नहीं। यदि अमरीका न मिलता तब भी कोलम्बस के अमर हृदय पर, सहस्र-सहस्र अमरीकाएँ न्यौछावर थीं। इसी तरह 'क्यों' लेकर जाने और 'इसलिए' लेकर लौटने के प्रतिभा-जगत् में, गति ही प्रभु है और प्राप्ति तो भाग्य का पुत्र, फल का देवता, और परसों का मील का पत्थर ही बनने वाला है।

साहित्य-देवता

इसी प्रतिमा ने, जीवधारियों के भले या बुरे जगत् से हमें छीन लिया। हम कारण और उपाय के दीवाने हुए। और उस दिन हमने अपनी धारणा बनाई। लोगों ने कहा, जहाँ रवि नहीं जाता, वहाँ कवि जाता है। किन्तु हमने वहाँ, जातियों का जन्म दिया।

जो धारणाओं के गुलाम बने, उन्होंने मजहब बनाया। जो धारणाओं के शीश पर चढ़, शोध में आगे बढ़े, उन्होंने कला का निर्माण किया। धर्म बोला, मैं चिन्तन हूँ, कला बोली, मैं कल्पना हूँ। और आदम और हौवा की तरह दोनों देखने लगे—दूर तक क्या है? यदि अच्छा है तो चले चलो। और यदि बुरा है, संकट, भय है, असाध्य है तो उपाय क्या है?

पुरुष ने कहा, 'ठहरो'; प्रकृति ने कहा, 'चलो'। पुरुष मकान बनाने लगा, प्रकृति उसे सजाने के लिए भोजन, भजन, और गति के लिए शृंगार की 'साज' में लग गयी। परिणामतः जहाँ तक कला जाती—धर्म को भी वहाँ तक जाना पड़ता।

भाई मेरे, क्या आज ही पूजा टाल दोगे? यदि न टालोगे तो, वज्र गति, वज्र-जन्मा, वज्र-व्यापी, वज्र-मर्दन बूँदें क्या तुम्हारी कलम से नहीं उतरेंगी? मुहम्मद को इलहाम हुआ था, ऋषियों ने प्रकाश देखा था—आभा, आज तो पथ-दर्शन तुम्हें ही करना होगा—जन्म के, जीवन के, उभार के, उपहास के, रुचि के, अरुचि के, मोद के, मरण के मूल्य पर।



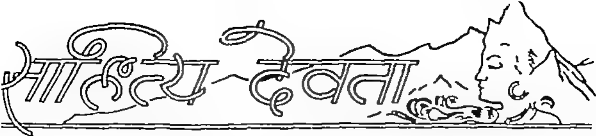
सन्देश-वाहक

तुम कौन हो ?

क्या तुम ज्योतिषी हो ? तुमने आनेवाले जमाने के बहुत पहले, जो कह दिया, उसे हमने ज्यों-ज्यों समय का चक्र घूमता गया, सच होते पाया । हमने ज्योतिष के पारंगत तुम्हें कभी नहीं सुना, फिर तुम, ऐ [illegible] ! भविष्य कैसे कह देते हो ? यदि ज्योतिषी नहीं हो, तो क्या तुम स्वयं ज्योति नहीं हो, जिससे दूर तक का अन्धकारमय जमाना फटकर, वह सुदूर छुपी हुई अपने हृदय की बात बता देता है ?

अरे, पर तुम केवल भविष्य ही तो नहीं कहते । तुम भूतकाल की बातों को हमें समझाते हो, वर्तमान की उलझनों पर प्रकाश डालते हो और उनकी गाँठों का पता बताते हो, और भविष्य का चित्रण कर, हमें खतरे की चेतावनी देते हो । तब क्या तुम न केवल ज्योतिषी हो, न केवल ज्योति तुम क्या समय के स्वामी, समय के सर्वस्व हो ?

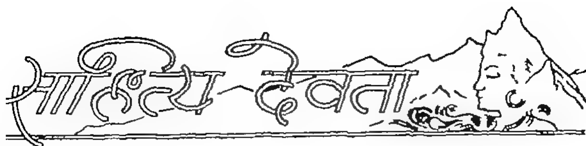
यह तुम्हारी ही वाणी में विश्व बोल उठा, क्या तुम वह करुण-पुकार हो, जो दुखियों, पराजितों, पराधीनों और पतितों की ओर से पुकार रही है । यह क्या सारी कलमें कागज पर, तुम्हारी ही दिशा में चलने लगीं । क्या तुम वह युग हो, जो सारा जमाने का जमाना जिसने उठ पड़ती है । तुम कैसी पुकार, कैसी करुण-पुकार, कैसी वीर-ध्वनि हो, जिसे हम दिल्ली के शाही महलों में, और हिमालय, विन्ध्याचल, अरावली और नीलगिरी के शिखरों और उनकी दरियों में बरसों सुनते हैं और सुनते हैं तुम्हारी शीतल धूम को यांगसीक्यांग, गंगा, यूफ्रेटिस, नील, टेम्स और मिससिसिपी की तरल



पर बलशालिनी लहरों में भी। सुनते हैं मन्दिरों, मस्जिदों, गुरद्वारों, गिरजाओं आदि समस्त देवालयों और विश्व की उलझन के साधन बाज़ारों और जन-स्थलों में भी। क्या यह तुम्हारी ही वाणी है, जो कलकत्ता में हमें Inferiority Complex से बचाती है और प्रार्थना में विलीन हो जाती है; उस प्रार्थना में जो हमें वह चुनौती देती है जिसमें आशा का ईश्वरीय सन्देश अंकित होता है।

क्या तुम दुखी हो। यदि नहीं तो तुम्हारी आँखों में किस वेदना के आँसू हैं, और तुम्हारे मुँह पर कौन-सी उदासीनता। उस समय जब सूरज तुम्हारी वाणी को अपनी किरणों में गूँथ कर, विश्व को तुम्हारे अपनेपन में बहला रहा है, तब शाही महलों की और शाही महलों की कृपा से चमकनेवाली बिजली की बत्तियाँ तुम्हारी आँखों को चौंधियाने, तुम्हारी वाणी और तुम्हारे अस्तित्व के आसपास Electric-Wire fence बिजली के तारों की बागड़ खींचने और तुम्हारी प्रभावित आत्माओं को बिजली के फाँसी के खम्भों से चिपका देने का प्रयत्न क्यों कर रही हैं। सहस्र-किरण के साथ, बिजली की किरणों का यह संग्राम। और इतने कष्टों में भी, तुम्हारा यह मुग्धहास्य—यह बिना दाँतों के मुँह से खिलखिला पड़ना। क्या उस वेदना में, तुम्हारी निम्न खिलखिलाहट का खज़ाना भी छिपा हुआ है।

क्या तुम बेचैन हो क्योंकि तुम मेरा पतन नहीं देख सकते। क्या तुम बेचैनी का भार इसलिए सँभाल रहे हो, चूँकि तुम मुझे अपना मानते हो। क्या मेरे प्रति रहमेवाला प्रेम ही ने, तुम्हें कष्टों का वरदान दिया है। पर फिर तुम्हारी यह लापरवाही कैसी। मैं तो प्रेम में पुकार और आत्म-समर्पण का आदी हो गया हूँ, मैं तुम्हारे प्रेम की लापरवाही का अर्थ कैसे पाऊँ।



सन्देश-वाहक

तुम कौन हो?

क्या तुम ज्योतिषी हो? तुमने आनेवाले ज़माने के बहुत पहले, जो कह दिया, उसे हमने ज्यों-ज्यों समय का चक्र घूमता गया, सच होते पाया। हमने ज्योतिष के पारंगत तुम्हें कभी नहीं सुना, फिर तुम, ऐ बन्धु! भविष्य कैसे कह देते हो? यदि ज्योतिषी नहीं हो, तो क्या तुम स्वयं ज्योति नहीं हो, जिससे दूर तक का अन्धकारमय बयाबान कटकर, वह सुदूर छुपी हुई अपने हृदय की बात बता देता है?

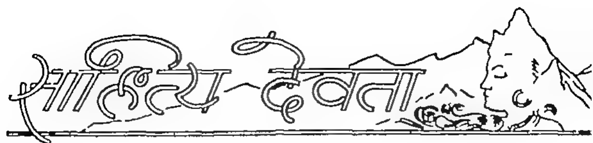
अरे, पर तुम केवल भविष्य ही तो नहीं कहते। तुम भूतकाल की बातों को हमें समझाते हो, वर्तमान की उलझनों पर प्रकाश डालते हो और उनकी गाँठों का पता बताते हो, और भविष्य का विश्लेषण कर, हमें ख़तरे की चेतावनी देते हो! तब क्या तुम न केवल ज्योतिषी हो, न केवल ज्योति तुम क्या समय के स्वामी, समय के सर्वस्व हो?

यह तुम्हारी ही वाणी में विश्व बोल उठा, क्या तुम वह करुण-पुकार हो, जो दुखियों, पराजितों, पराधीनों और पतितों की ओर से पुकार रही है? यह क्या सारी क़लमें इशारे पर, तुम्हारी ही दिशा में चलने लगीं? क्या तुम वह भुजा हो, जो सारा ज़माने का ज़माना लिखने उठ पड़ती है? तुम कैसी पुकार, कैसी करुण-पुकार, कैसी पीर-ध्वनि हो, जिसे हम दिल्ली के शाही महलों में, और हिमालय, विन्ध्याचल, अरावली और नीलगिरी के शिखरों और उनकी दरियों में बरसों घूमते हैं और सुनते हैं तुम्हारी शीतल धूम का यांगसीक्यांग, गंगा, यूफ्रेटिस, नील, टेम्स और मिसिसिपी की तरल

पर मस्तशालिनी लहरों में भी। सुनते हैं मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, गिरजाघरों आदि समस्त देवालयों और विश्व की उलझन के साधन बाजारों और जन-स्थलों में भी। क्या यह तुम्हारी ही वाणी है, जो कलकत्ता में हमें Inferiority Complex से बचाती है और प्रार्थना में विलीन हो जाती है, उस प्रार्थना में जो हमें वह चुनौती देती है जिसमें आशा का ईश्वरीय सन्देश अंकित होता है।

क्या तुम दुःखी हो? यदि नहीं तो तुम्हारी आँखों में किस वेदना के आँसू हैं, और तुम्हारे मुँह पर कौन-सी उदासीनता? उस समय जब सूरज तुम्हारी वाणी को अपनी किरणों में गूँथ कर, विश्व को तुम्हारे अपनेपन में नहला रहा है, तब शाही महलों की और शाही महलों की कृपा से चमकनेवाली बिजली की बत्तियाँ तुम्हारी आँखों को चौंधियाने, तुम्हारी वाणी और तुम्हारे अस्तित्व के आसपास Electric-Wire fence बिजली के तारों की बागड़ खींचने और तुम्हारी प्रभावित आत्माओं का बिजली के फाँसी के खम्भों से चिपका देने का प्रयत्न क्यों कर रही हैं? सहस्र-किरण के साथ, बिजली की किरणों का यह संग्राम? और इतने कष्टों में भी, तुम्हारा यह मुक्तहास्य—यह बिना दाँतों के मुँह से खिलखिला पड़ना। क्या उस वेदना में, तुम्हारी खिलखिलाहट का खजाना भी छिपा हुआ है?

क्या तुम बेचैन हो क्योंकि तुम मेरा पतन नहीं देख सकते? क्या तुम बेचैनी का बोझ इसलिए सँभाल रहे हो, चूँकि तुम मुझे अपना मानते हो? क्या मेरे प्रति रहनेवाले प्रेम ही ने, तुम्हें कष्टों का वरदान दिया है। पर फिर तुम्हारी यह ललकार कैसी? मैं तो प्रेम में पुचकार और आत्म-समर्पण का आदी हो गया हूँ, मैं तुम्हारे प्रेम की ललकार का अर्थ कैसे जानूँ?



क्या तुम्हारी यह ललकार कोई सन्देश लेकर आई है ?—

" तू अपना पथ बदल !

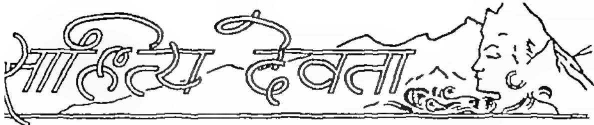
मैं तुझे, और तेरे ज़माने को बदलने के लिए बाध्य करूँगा ।"

आह, तुम पर बरसनेवाले निन्दा के अंगारों और दाँव-घात के अन्तरतम छेद डालनेवाले प्रहारों के बीच भी युगों में अनन्त सन्देशवाहिनी वाणी को नहीं बदलते ?

प्रत्यक्ष के घिनौनेपन के प्रसूनों को, यह किस अप्रत्यक्ष किन्तु आँखों में दीखनेवाले कुंज-वन में से चले ? घातक और द्रोही अन्तरतम को, तुम यह कौन-सी प्रतिज्ञा की याद दिलाने लगे ? जीवन की क्रूरता की कंकरियों को प्रेम के रस से भरे अंगूर कैसे बनाने लगे ? पतन के लिए प्रस्तुत पुष्प का, पवित्रता की सूची से छेदकर, यह कौन-सी माला बनाने लगे ? बारूद की तबीअत में मनोवेगों के कणों को भिगाकर ठंडा कर देनेवाला कौन-सा पानी बहाने लगे ? राजमुकुटों को न्याय के खूँटों से इस तरह बाँधना, गद्दार हृदय का ज़िम्मेवारी से नम्र बनाना, पापों की बाढ़ से पश्चात्ताप और आत्म-निवेदन के बल पर बचा ले जाना और अभिमान के गले में नम्रता की वनमाला पहिनाना—यह तुम अपनी वाणी के प्रभाव से कर रहे हो । कैसी अनोखी है तुम्हारी यह वाणी ?

तुम्हारी वाणी ! यह ज़रूरतमन्दों का विश्वास है, कष्टभोगियों का आराम, बीमारों की सेहत, गुलामों की आज़ादी ।

तुम न तो राजा हो, न राजकुमार हो, न धर्माचार्य हो, न लेखक या ग्रन्थकार, न तुम्हारे पास आडम्बर है, न तुम्हें विजय के पदक और पद ही प्राप्त हैं, न तुमने सम्प्रदाय चला कर चेले ही बनाये हैं,—फिर मनुष्य,



केवल मनुष्य के नाते तुम्हारी वाणी में इतना बल क्यों है ।

यह वाणी जब गुनगुना उठती है तब विश्व बावला होकर उसे दुहराने लगता है, बेचैनी से भरी होती है तब विश्व की 'पीर' बन जाती है, जब बहादुरी की आवाज बनती है तब भूमण्डल के देशों के नक्शे बदल देती है और जब एकान्त में—निकली हुई तलवार के म्यान में रखने की तरह पुन गुनगुना जाती है, तब पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त और आत्म-निवेदन से भरी होती है,—यह किसकी वाणी है ।

तुम्हारी आग से विश्व उजाला है और तुम्हारे पानी से हम पर पानी, किन्तु तुम रासायनिक तत्त्ववेत्ता या वेदान्ती नहीं हो। क्षिति, जल, नभ, पावक, पवन भले ही विश्व बनाया करें, परन्तु तुम्हें इनसे तभी तक मतलब है जब तक ये मानव हृदय का उज्ज्वल, उन्नत और सुनहला निर्माण करने के काम आ सकें। तुम कवि हो—विश्व हृदय के गायक। परन्तु तुम हो बिना इच्छा किये, बिना जाने कवि। तुम्हारे मन की बलवान् उथल-पुथल और तुम्हारे स्वप्नों का विश्व बनानेवाला चित्रण जब तुम्हारी वाणी या कलम के घाट उतरने लगता है, तब मयूर बनकर सरस्वती को अपनी रुचि से उड़ा ले जानेवाले, और रसों से विश्व का हृदय ढालनेवाले रससिद्ध चकित होकर तुम्हारी ओर देखते और कह उठते हैं—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः

तुम उपदेशक नहीं हो। न तुमने मन्दिर बनवाये, न कथाएँ पढ़ीं, न कर्मकाण्ड की हिदायत ही पर अमल किया, पर बावली दुनियाँ तो देखो। तुम्हारी वाणी सुनी नहीं कि कथाएँ बन्द हो गईं। स्मृति के बस्ते बँध गये,

++ सन्देश-वाहक

मा —१२

और तुम्हारी एक-एक बात जीवन में उतारी जाने लगी। तुम राजा नहीं हो तुम्हारी वाणी अरस्तू बनकर, न लोगों पर शासन चलाती, न लोगों के लिए कारागार बनाती, न लोगों को जबर्दस्ती मानने के लिए बाध्य करती; इसके सिवा न तुम्हारे पास सेना है न खजाना। तुम्हारे पास तो अपनी वाणी-मात्र है—फिर उस वाणी को माननेवालों की तादाद बड़े-बड़े अनेक राज्यों से भी अधिक क्यों है, और तुम्हारी आज्ञा से शूली पर चढ़ने और कारागार में जानेवालों का इतना बड़ा समूह क्यों? तुम सिपाही भी तो नहीं हो। न तो तुम्हारी खाकी वर्दी है न उस पर कोई तमगे लगे हैं, न तुम्हारे पास बन्दूक है न उसमें भरे जानेवाले कारतूस, न तुमको 'हाल्ट' से खड़ा रहना सिखाया गया न क़वायद पर नाच-कूद मचाना, परन्तु सिपाही की तरह, अपने लक्ष्य पर प्राण देने की तुम्हारी मस्तानी तैयारी किस सैनिक को गरवीला नहीं कर देती।

अहा! राजा, सैनिक उपदेशक तत्त्ववेत्ता कवि सिपाही—सब अपने नाम पर बोलते हैं। परन्तु तुम्हारी वाणी! तुम तो अपने शब्दों को प्रभु के नाम पर बोलते हो। जो लिखते हो, उसमें क़लम के मुँह की कालिमा पर भी—भगवान् के स्नेह का कम्पन—स्फुरण होता है। क्या तुम विश्व के सौभाग्य-साम्राज्य के मन्त्री नहीं हो? क्या तुम अन्तरतम के अनन्त के सन्देश वाहक 'जीवन-दूत' नहीं हो। क्या तुम पाप के कुम्भी-पाक में पहुँच-कर, प्रभु की वाणी की चर्चा करनेवाले, राजदूत नहीं हो? वह राजा जो अपने से परे किसी की सत्ता नहीं मानता वह उपदेशक जो प्रभु के अस्तित्व के बुरे अर्थ कर अपना रोजगार चलाता है और वह तत्त्ववेत्ता, जो अपने अस्तित्व से भी प्रभु के अस्तित्व को कमजोर मानता है कैसे तेरी वाणी का स्वाद पा सके, तेरे मिटने का उन्माद पा सके!

साहित्य देवता

तुम तो वह हो—जो आँसू-भरी आँखों से भी, उस संकट को स्पष्ट देख सकते हो, जो तुम्हारे जन और ज़माने पर झूम रहा है।

तुम उसकी ज़बान हो जो बोल नहीं सकता, उसके हाथ, जो लिख नहीं सकता। उसकी चेतना जो असंगठित और तितर-बितर पड़ी है, उसके पड़ौस का सब कुछ खो चुका, उसके रक्षक जो बलवान् की कुचलन से बचने के लिए छटपटा रहा है। तुम शिकारी के तीर के निशाने पर मुग्ध नहीं होते, लक्ष्य के भेदित होने के पहले अपना हृदय लगाते हो। तुम मोटे पेट, और अमीरीवाले धनी के साथ नहीं घूमते, भूख से मरते हुए को, भूख पर रोटियाँ खिलानेवालों में तुम दीख पड़ते हो। ज़रूरतमन्दों और दबे हुओं में तुम्हारे दर्शन होते हैं—उनमें ज़रूरतमन्द ग़रीब होता है, और दबा हुआ लँगड़ा—जहाँ तुम्हें मदद मिलने के बजाय, तुम्हारी सारी सहायता और शक्ति की परीक्षा होती है तब भी तुम उन्हीं के साथ रहते हो। परन्तु तुम्हारी वाणी रुकती नहीं, झुकती नहीं, क्यों? इसलिए कि तुम प्रभु के सन्देशवाहक हो।



बैठे-बैठे का पागलपन

(अ)

प्रेम, साहित्य के जगत् में, रस की हृदय को छू लेनेवाली मीठी किन्तु पुरुषार्थमयी सुकोमलता का नाम है। जीवन की सांसों के उदय और अस्त को नित्य की नवीनता की डोर में गूँथकर, खतरे की गोद में निवास करने वाले अनहोनेपन के निकट पहुँचना और इस पहुँच का, सूर्य किरनों की तरह नित्य अस्त होकर भी, फिर-फिर कर नया बालपन पाना—यही तो 'इस जगत्' के प्रेमी का प्रत्यक्ष प्रेम-स्वरूप हो जाना है। रामतीर्थ के शब्दों में 'प्रेमी वह जो प्रेम पर मरे'; प्रेम वह जिसपर—जिसकी अपौरुषेय शक्ति पर, स्नेह की ओतप्रोतता पर और बलि की क्षितिज को छू लेनेवाली सामर्थ्य पर,—जगत् मर-मर कर रह जाय। हृदय के मत का आधार यही कहा जायगा। इसे कवि कहिए, योद्धा कहिए, योगी कहिए, बलि कहिए या हृदय 'वाद' के युग में उसे हृदय कहिए।

(आ)

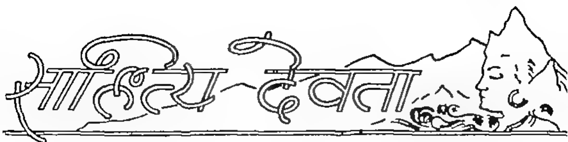
प्रेम उसकी जागीर है, प्रेम पर उसी का एक छत्र अधिकार हो सकता है, जिसने अपने अन्तरतम की सामर्थ्य के बूते प्रेम की प्रत्येक गति-विधि—उसकी श्वासों की वायु, उसकी लहरियों, उसके भावों के परे तक पहुँचने के खेलों और उसके बलि-कौशलों को अपनी उज्ज्वल उदासीनता और वेदना मय मुसकान में बाँधने का अध्ययन किया है। सच्ची लगन और उज्ज्वल समर्पण,—दोनों ही इस विजयी की प्रजा हैं। अनन्त प्रेम-कोष अपने पास रहना, और चक्रवृद्धि के ब्याज की गति से अपने अन्तर के जगत् और आस

पास के वातावरण में बढ़ने पर भी वह, उस कोष की कोई वस्तु हृदय का बोझ घटाने, और नयी वस्तु के लिए स्थान बनाने के हेतु बाज़ार में नहीं रखता। हृदय के अन्दर ही सौदागरों का टोटा कहाँ! विन्ध्या के शिखर, नर्मदा की लहर, बेतवा* का कलकल, मोर का गायन, मौन पर सूली हुई, हृदय में गड़नेवाली आँखें, तथा सूली का लालच,—ये सब सौदागर बाहर कोई वस्तु जाने ही कब देते हैं!

(२)

और उस जागीर के उपयोग में, प्रेमियों की 'उदार कंजूसी' भी अध्ययन और दुलार की वस्तु होती है। उस जागीर की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक टहल, भावों के भगवान पर चढ़ती रहती है। उदार वह इसलिए, चूँकि दान के समय पास कुछ नहीं रखा जाता, और कंजूसी उसमें इसलिए, चूँकि देश और काल करारे संग्राम करके भी उसकी लहर को कुपात्र पर नहीं बरसा पाते। इसे तलवार की धार कहिए,—क्योंकि उत्थान के अतिरेक और पतन के प्रारम्भ के बीचोंबीच की हलकी रेखा पर चढ़कर चलना होता है। धार और दिलदार दोनों हैं हस्ती में एक ही; परन्तु पिछला, अन्तर की अनन्त निधियों को जगत् से लूटकर भले लाया हो, अपने अभिमत के सम्मुख रख देगा। और दूसरा उसके सामने कभी नहीं रखेगा, जिस पर उसने अपनी लूट आजमायी है। इसीलिए धार पतित है, उसकी हस्ति माड़ है, वह अपराध की पराजित प्रभा है, वह प्रेम-पथ का कोढ़ी है। दिलदार अपने समस्त शापों और वरदानों को अपने आराध्य पर चढ़ा देता है। वह दौर चढ़ दिल

* बुन्देलखण्ड प्रान्त में एक नदी है जो पर्वत-मालाओं के सौन्दर्य के बीच से बहती है।—लेखक



और सागे पर निशाना अपने ही पर खेलता है। रूप, गुण, धन या प्रभाव किसी भी क़ीमत पर उसे नहीं ख़रीदा जा सकता। अपने नभमण्डल में वह सूरज है। अपनी सितारों की दुनिया का वह ध्रुवतारा है। अपने भाग का जहाँ वह आतप है, वहाँ वह पावस भी है, वसन्त भी है।

(ई)

कवि प्रेम शब्द को मोह के जगत् से इतनी दूर खींचे ले जा रहे हैं, जहाँ तक विकार नहीं पहुँच पावेंगे। तत्त्वज्ञान में असफल होकर जहाँ जुआ नीचे रख दिया होगा, वहीं से सच्चे कवि ने उसे उठा लिया होगा। यदि भक्ति सचमुच कोई—श्री विवेकानन्द के शब्दों में—योग हो, तो उसे, भावों के इस दीवाने के द्वार मजदूरिन बनकर रहना पड़ेगा। और मुक्ति जैसी खुली हुई, स्वच्छन्द वस्तु को गलत बनकर, अपने पंखों पर, इसी दीवाने देवता की प्राण प्रतिष्ठा करनी चाहिए। और यदि कोई प्रभु रहता हो, तो इस अतिरेक के बीमार से दूर वह कहाँ रहेगा ! किस आशा से !

सो, यथार्थ कवि के ज़िन्दा रहते, प्रेम को विकार के निकट ले जाना, जगत् की साध्य कल्पना नहीं हो सकती। कवि के हाथों जाने देकर व्यभिचार ने प्रेम को सर्वथा उड़ जाने के लिए छोड़ दिया। अब वह हाथ आने को नहीं। और यदि वह दोनों रूपों में है—प्रेम के रूप में और व्यभिचार के भी—तो वहाँ ज़िन्दा का भय कहाँ !

(उ)

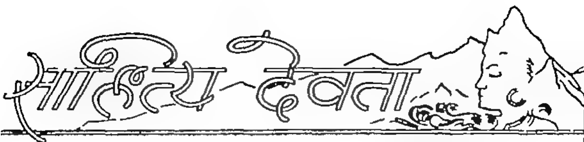
शब्द अक्षरों ही से बने हैं; वे चाहे जहाँ घसीटे जाते हैं—जा सकते हैं। परन्तु जब वे कवि के निकट होते हैं तब वे अपने गौरव के पूर्णभार को अनुभव करते हैं; उनके क़दम उठाने पर हर्ष में भी पदध्वनि होती है,

वेदना में भी मस्तक झुकते हैं। मुसकान यहाँ मीठी होती है आँसू यहाँ उससे भी मीठे हो जाते हैं।

(ऊ)

प्रेम शब्द अब युग परिवर्तन की यमुना की लहरों में भीगता जा रहा है और मानसिक विचारकों की स्फूर्तियाँ उसे छू-छूकर, नक्षत्रों की ऊँचाई से लड़ाई उन्नतशाला बना रही हैं, अतः अब वह मच्छड़ भर तालाबों में भैंसों के साथ नहीं लोट सकेगा। वह कृष्ण की संभावों की हरियाली पर भी बाँसुरी की धुन में अब 'रूप' 'कुच' 'कटाक्ष' गाता रहा न रह सकेगा। वह गीत ही गावेगा किन्तु वे ज़माने का माप लिखेंगे।



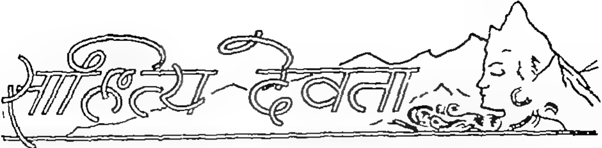


अक्षरधारी पुरुषार्थ

सन्त विनोबा एक बार उन लोगों से नाराज हो उठे, जो अपने साहित्य को छुपा कर रखते हैं। उन्होंने इस बात को अपने प्रयत्नों का खुद भोगना बताया। मैं तो इस अपराध का अपराधी ही माना हुआ। किन्तु एक उलझन भाव भी मेरे मन में ज्यूँ-की-त्यूँ है—

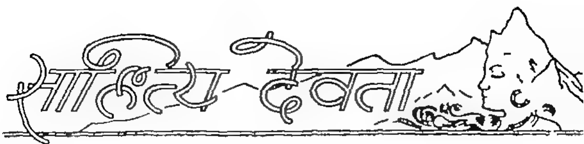
जब हर बच्चा पैदा होने के पश्चात् बाढ़ दिनों छुपाया जाता है, हर विचार, बच्चे की अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी या अमर बनाने की साध हो, तो क्यों न छुपाया जाय! विचारों के घातक, खूनों से रक्त चूसते हैं और आँखों से डाका डालते हैं। यह कवियों के बदनाम प्रेम के जगत् की बात नहीं है। मेरा तो विचार है कि जो लोग बोलने का काम किया करते हैं, वे काम का बोलना बहुत कम बोल पाते हैं। यह सच है कि विचारों पर आक्रमण करनेवाले क्षमा नहीं जानते और विचारों के हिमायती विचारों की रक्षा के लिए अपने हृदय को किला तो क्या झोपड़ी भी नहीं बना पाते। तब शरीरविन विचार-जननी को अपने नन्दनन्दन के गोपन और संगोपन की खबरदारी रखनी होती है। उन्हें हवा बचाकर नहलाना और सुहलाना होता है। विचारों का प्रजनन बे-इख्तियार होता है, माना; किन्तु दो बातें जरूरी हैं। एक तो विचारों का शरीर सुभग, सुघरा, सशक्त हो और दूसरे, युग के हृदय में उन विचारों की वाचा फूट सके।

दुर्गा पूजा में मिट्टी के घटों की स्थापना का विधान है। हम इस समय साँस लेते हुए मिट्टी के घटों की स्थापना क्यों न करें! और बाजारू तेल का मन्दादीपक उनके मस्तक पर सुलगाने के बजाय क्यों न मस्तक में

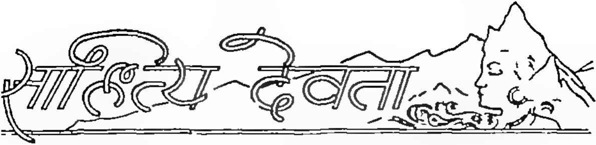


ही स्नेह-दीप सुलगावें। कहते हैं दुर्गा सिंह वाहिनी है। वे कैसे शक्ति-पूजक हैं, जो अपनी दुर्गा को नृसिंह वाहिनी नहीं कहते। मेरे विचार से तो साहित्य की दुर्गा जमीन, झाड़ियों, नदियों सरोवरों, टीलों, टेकड़ियों, खेतों, खलिहानों यानी राष्ट्र का सिंहासन बनाती है, संस्कृति के गहने पहनती है; उथल-पुथल का राज-दण्ड धारण करती है और मुकुट को ठुकरा कर किसी जाति के संकल्पों का, गरीबों के बगीचों में उगे हुए फूलों का हार अपने जूड़े से बाँधती है और समस्त राष्ट्र के निवासियों की आत्मा का वस्त्र पहनकर क्रियाशीलता के साथ बैठ जाती है। यदि दुर्गा यह नहीं है तो फिर वह कौन है जो दुर्गा है। सम्प्रदाय के बन्दीखाने में बन्द करके हम अपने ही जैसी अपनी दुर्गा की कमहीन और कायर तसवीर क्यों बनाते हैं।

जब किसी एक देश का निवासी किसी दूसरे देश के निवासी से मिलता है तो वह जीवित व्यक्तियों से बातचीत करता है, किन्तु वही व्यक्ति जब हमारी मातृभूमि में आता है तब हम प्राणों की पाँखुरी बलाय रखनेवाले लोगों से कुछ नहीं बोलता। वह हमारे राष्ट्र के खण्डहरों से बातचीत करता है और हमारे कौशल पर मस्त होने के बजाय शताब्दियों के गड़े हुए भारत के भोजपत्रों और कथाओं का पद-पद पर मस्तक झुकाता है। यही क्यों उन पत्थर की लकीरों और ताम्र-पत्रों पर लिखी हुई पंक्तियों को वह मूल्यवान् खजाने की तरह अपने साथ ले जाता है। उस समय वह हमसे भी एक काम लेता है। भोजपत्रों और शिलाओं पर लिखे हुए हमारे भाग्य की प्रतियों को रेल और जहाजों में चढ़ा देने के लिए वह हमसे बोझा ढोनेवाले का काम लेता है। पूर्वजों का यह बोझा हम पीठ पर लाद सकते हैं, मस्तक

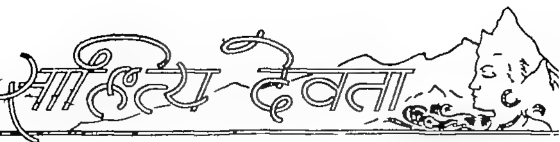


पर नहीं। हम नाराज होते हैं कि हम सजीवों की यूरुप या पश्चिमी जग इतनी उपेक्षा करता है, किन्तु उपेक्षणीय हम, उपेक्षा से अधिक के कब हकदार हों। नालन्दा और वैशाली, महाबोधि के तपोभूत बनकर एशिया के अरमान और जगत् के संकेत-वाक्य हैं। यदि हम अपने बीच से गांधी और रवीन्द्र उठाकर एक तरफ़ रख दें तो हमारा भाग्य किसी ब्रिटिश अदालत में लावारिस और दिवालिया होने की दरख्वास्त देता नज़र आयेगा। जगत् में अस्तित्वों की उपेक्षा नहीं होती। जब हम देखते हैं कि काशीप्रसाद जायसवाल के चरणों में बैठकर पश्चिम के लोग हमारी संस्कृति और सभ्यता की धाक मानते हैं, तब कितनी बार हम अपनी जाति में, भारतीय जाति में अनेक श्रीकाशीप्रसादों का अपने हृदय के अन्दर आत्मदर्शन करते हैं। किन्तु हम किसी महान् वस्तु का आत्मदर्शन तो तब कर सकें न, जब हमें अपने आत्मसंकीर्तन से अवकाश मिले। जायसवाल जी अपने तप में यशस्वी हुए कि उन्होंने भारतीय जाति की राष्ट्रशक्ति, राष्ट्र-गौरव और राष्ट्रीय-आदर्श को खण्डहरों के पत्थरों और सदियों के सड़े भोजपत्रों और कथाओं में से सही-सलामत जीवित निकाला। किन्तु एक हम हैं, जिन्होंने जायसवाल जी और उनके से अन्य प्रयत्नशीलों के कष्ट-साध्य प्रयत्नों पर अपनी बे-जानकारी के खण्डहर खड़े कर दिये। आकाश पर शक्ति रखनेवाले सूर्य की किरणें भी मर्यादा के खिलाफ़ हमारे कमरे में प्रवेश नहीं कर सकतीं; यदि हमने द्वार बन्द कर रखे हों। तब प्रतिभा की ऊँचाई और त्याग के



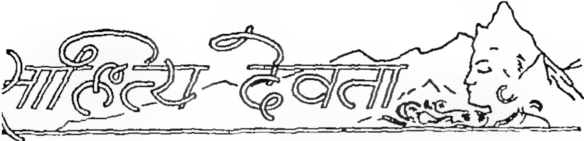
इतिहास का कुछ आलोक लेकर कुछ प्राणवान लोग आये, तब हमने पन्ने बेचकर पुस्तक प्रकाशन करनेवालों से अधिक कदाचित उनका मूल्य नहीं कूता। वे राष्ट्रीयता के संक्रम युग में इतिहास का सन्देश अपनी पीठ पर लाद कर आये; किन्तु हमारी रुचिहीनता के प्रहरी हमारे हृदय-द्वार पर खड़े हैं और वे हमें हास-विलास के दिमागी कमरों से बाहर आकर इतिहास के उन गम्भीर संकेतों को न हमारी आँखों पर पड़ने देते हैं, न हमारे हृदय में प्रवेश करने देते हैं, न हमारी कलम पर उतरने देते हैं। फिर युग की ज़रूरत के अनुसार हमारी जाति के जीवन पर उन संदेशों के उतरने की बात ही दूर है।

हम तो अपने देश के साहित्य और जीवन-निर्माता की बात को विचित्र तरह से भूल जाते हैं। किसी चिन्तक का हमारे बीच होना अभिशाप है। हमारे बीच चिन्तकों का आना उसी तरह है जिस तरह गायक अपना गीत गाने और वह अपनी ध्रुपद की तान ज़ोर से खींच दे और गीत के बीचों बीच ही उसकी वह तान ठहर जाय, तो हममें से किसी के पास कण्ठ नहीं कि गायक की आगे की कड़ियाँ अपनी स्वर-लहरी से गर्वपूर्वक सम्पूर्ण कर दे और अपने कण्ठ की तरलाई पर राष्ट्र के मस्तक झुलवा ले। स्वामी राम जैसे तरुण और सिद्ध कवि का हमारे बीच आना और जाना एक ऐसी ही बात है। हम उस तरुण गायक की स्वर-लहरी से राष्ट्र-भारती का अभिषेक न कर सके। ग्रन्थों के बन्धनों के आदी हम, स्वामी राम के कथन में भी मुक्ति का गीत ढूँढ़ने के बजाय वेदान्त के बन्धन ढूँढ़ने लगे। तब राम की बाँसुरी का स्वाद हमारी नसों में पनप ही कैसे सकता है ! एक कहानी में राम ने कहा कि कोयल आम के झाड़ पर बैठे या नीम के



झाड़ पर झाड़ सूखा हो या हरा हो, और कठोर अन्धड़ आने पर झाड़ों के पत्ते बिखरें या झाड़ों की डालियाँ ऊँची-नीची हों, वे टूट भी भले ही जायँ; किन्तु कोकिला का अभिमान कभी डाँवाँडोल नहीं होता। वह जानती है कि उसका अस्तित्व चीत्कार करनेवाले पत्तों की डाँवाँडोल होती हुई डालियों पर अवलम्बित नहीं है। दस टन की डालियों की अपेक्षा सवा तोले वजन के अपने पङ्खों पर उसकी शक्ति और स्वतन्त्रता का गर्व अड़ता है। हमारे बीच कितनी साहित्य-कोकिलाएँ हैं, जो अपने हिलते-डुलते आश्रय-स्थानों से न घबड़ाकर, अपने पङ्खों से अनेक अन्धड़ों को चीरकर अपना पथ बना लें और अपने बन्धन-देश से मुक्ति-लोक तक अपने जाने की ऐसी लम्बी रेखा खींच दें, जिससे समस्त पङ्खवान तरुणाई मुक्ति-देश का पथ पा ले।

हम अपनी इस आदत को क्या करें? यदि किसी के दोष सुनता हूँ तो तुरन्त मान लेता हूँ और उस अपथ्य को पेट में लेकर फिर बाहर लाता हूँ और अपनी साहित्यिक पीढ़ी को उस निन्दा-निधि की खैरात बाँटता हूँ। संसार के दोषों का मैं बिना प्रमाण सरल विश्वासी होता हूँ, और यह चाहता हूँ कि मेरी ही तरह मेरा पाठक भी मेरी लोक-निन्दा पर विश्वास करे। किन्तु यदि मैं किसी के गुण, किसी की मौलिकता, किसी की उच्चता की चर्चा सुनता हूँ तब मैं उसके लिए प्रमाण वसूल करने के इजहार लेना चाहता हूँ। जो कलाकार अपनी एकांत प्रेरणा को वाहन बनाकर अपने सम्पूर्ण स्वप्नों और इरादों को लेकर बैठ जाता है, जो सूरज और चाँद के प्रकाश के साथ होड़ा-होड़ी करता है, जो अपने आदर्श या आराध्य की तान मिल जाने के लिए अपने प्रयत्न के टूटे स्वरों को जोड़ा करता है, वह निन्दा



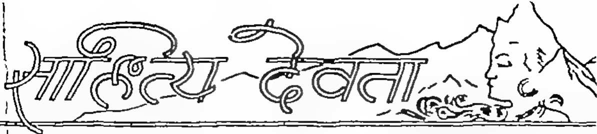
के महायज्ञ में 'होता' बनकर कैसे आवे ? उसके भोगों को तो हवन-द्रव्य ही बनाया जा सकता है। यदि हम प्रेमचन्द जी की कला की माप नहीं कर पाते तो अपने आक्रमण के अपराध का दण्ड तो उन्हें दे ही सकते हैं। यही हमारा पितृ-तर्पण हो रहा है। और, नकद-धर्म के उपासक हम, उसे जीते जी ही कर डालना चाहते हैं। जहाँ भी ऊँचाई को छूने के लिए अपने अन्तर की अँगुली नहीं पहुँच पाती हम खीझ उठते हैं। और, ऊँचे बिन्दु को खींचने लगते हैं। उत्थान के अभाव और पतन की पराकाष्ठा से भरा जानेवाला मेरा मानसिक पेट जब स्वयं ही आत्मप्रकटीकरण की भूख अनुभव नहीं करता तब औरों की ऐसी वेदना की मैं कैसे क़द्र करूँ ? जिसका पिता रोष हो, जिसकी माता उद्दण्डता हो, जिसकी बहन अविचारपूर्ण आत्मश्लाघा हो, जिसका भाई परिणाम की गम्भीरता का अज्ञान हो, वह और चाहे जो कुछ हो, साहित्य तो नहीं हो सकता।

मतभेद तो रहने स्वाभाविक हैं। वाद्यों के भिन्न-भिन्न होने से जब गीत में मिठास आता है, वृक्षों और पुष्पों की विभिन्नता में जब बाग़ गर्वीला नज़र आता है और संसार के सातों रंग मिलकर जब एक उज्ज्वल रंग बना देते हैं तब कौन कहता है कि विभिन्नता में एकता स्थापित नहीं की जा सकती ? मतभेद प्यारी वस्तु है। निष्ठा-हीन समर्थन की अपेक्षा ईमानदार मतभेद अधिक मूल्यवान है। किन्तु वह हो मतभेद। बदला न हो। और न यह भावना हो, कि अब मैं पीछे पड़ गया हूँ इस नन्दन को तो श्मशान ही बनाकर छोड़ूँगा। जब एक ही मनुष्य के जीवन में अनेक मत बदलते हैं और अपना नया मत बनने के समय अपने पुराने मत रखनेवाले व्यक्तित्व को जब वह स्वयं कोई दण्ड नहीं देता तब हम अन्यों के मतभेद से क्यों ऊब

उठें। यह सम्भव है कि जो विचार आज हमारे हों कुछ समय बाद हमसे मतभेद रखनेवाले के हों, और जो विचार आज उनके हैं वे किसी दिन हमारे हो जावें। किन्तु यह चर्चा विचारों की है। घृणा और तिरस्कारों के लिए नहीं। अस्तु। मैं तो कोमल और ललित साहित्य के समस्त महारथ मित्रों से कहता हूँ—

"पखुरी लगे गुलाब की—
परि हैं गात खरौंट।"

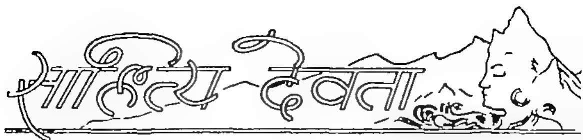
हम एक बात तो स्मरण रखें। मन्त्रों के नियमों का नियमन व्यक्तियों के व्यवहारों से होता आया है। सभी मन्त्रों में आराध्य, आदर्श या प्रभु झुककर नहीं बैठता। जिन दिनों तरुणाई लोहशृंखलाओं को तोड़कर मुक्त होने के लिए छटपटा रही हो, उन दिनों हम व्याकरण और पिंगल के नियमों के टूट पड़ने पर शोक प्रस्ताव पास न करें। यदि हम अपने और अपने से पहले के ज़माने के पतन की ईमानदार कैफ़ियत देने के योग्य नहीं हैं, तो मस्तानी तरुणाई के आगे बढ़ते हुए पैरों को रूढ़ियों और परम्पराओं से बाँधने का हमारा उद्योग हमारे ही सौभाग्य के खिलाफ़ हमारा विद्रोह कहा जायगा। जिन दिनों हम कीर्ति और धन की दूकानदारी खोलकर समस्त साहित्यिकता को अपने पैर में ठीक बैठनेवाले जूते की तरह बना डालना चाहते हों, उन दिनों तो सूर के से स्वाद की, तुलसी की सी तपस्या की, मीरा के से उन्माद की, भूषण की सी निर्भीकता की, हमारी हिमायत ईमानदार हिमायत नहीं कही जा सकती। हमने जो कुछ अपनी कृति से निर्माण किया, वह देश की पराधीनता और साहित्य के दिवालियेपन के



रूप में हमारे सामने है। यदि हम पतन के खिलाफ विद्रोह न कर सके तो हमें आज अपने खिलाफ विद्रोह स्वीकृत करना चाहिए।

फ्रेंच और जर्मन, रूसी और इँगलिश—इनके साहित्यों का आदान प्रदान है। भाईचारे के भेंट की तरह एक भाषा दूसरी भाषा से यदि कुछ लेती है तो कुछ देती है। किन्तु हमारे साहित्य में तो हम भिखमंगों की तरह लेते ही लेते हैं। देने को हमारे पास क्या है? जब हम अपने देश ही की भाषाओं से आदान प्रदान का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते तब पश्चिम की उन्नत भाषाओं से तो भाईचारा क्या स्थापित करेंगे?

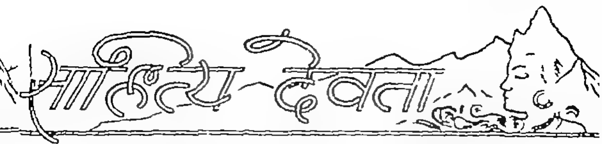
शीघ्र ही लड़ाई छिड़नेवाली है। कुछ लोग शान्ति का निरुद्देश्य पुरश्चरण कर रहे हैं, और कुछ लोगों को संकट यहाँ मालूम होता है, चाहे घटना दुनियाँ के किसी भी हिस्से में घटे। मैं तो इसे साहित्यिक नास्तिकता कहता हूँ। मैं तो सपना देखता हूँ कि अँगरेजी अखबारों के तार, समाचारों की कतरन और उनकी विशेष बातों की अपनी भाषा में की हुई बेहूदा नकलें अब हमें सन्तोष न दे सकें, और हमारे तरुण लड़ाई के मैदानों में पहुँचने की कोशिश करें। मुझे तो एक क्रियाशील तरुण का युद्धक्षेत्रों और दुनियाँ के घटनास्थलों में जाकर अपनी भाषा के पत्रों में सन्देश भेजना और वहाँ की परिस्थितियों पर ग्रन्थ लिखना सम्पूर्ण साहित्य-सम्मेलन के एक अधिवेशन से अधिक महत्त्व का मालूम होता है। युद्धक्षेत्रों में हम गूँगी भेड़ों की तरह चाह से या अचाह से कट जाते हैं। किन्तु हमारी कहानी कहनेवाला कोई नहीं होता। शासन की विषमता से भारतीय ज्ञान शस्त्र नहीं छू सकता। और शस्त्र रखकर कोई भारतीय, ज्ञान के पास नहीं जा सकता। मस्तक की धड़ और धड़ की मस्तक के साथ यह विषमता साहित्य के लिए



राहु और केतु हो रही हैं। यदि हमारे कल्पनाशील, क्रियाशील, साहसी, साहित्यिक तरुण चाहें तो अपनी साहित्यिक तेजस्विता से सिर और धड़ से लगे हुए एक सम्पूर्ण भारतीय मानव का निर्माण कर सकते हैं।

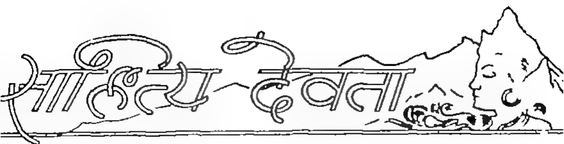
समुद्र से हम दूर भले रहें, किन्तु इस बात का ज्ञान तो हमें जरूर है कि हमारे देश के तीन ओर समन्दर लहरें ले रहा है, उस पर नौकाएँ भी चल रही हैं, व्यापारी जहाज भी दौड़ रहे हैं और जंगी जहाज भी समन्दर की छाती छेद रहे हैं। जब हमारे ज्ञाताओं की कलमों ही पर यह परिस्थिति नहीं उतरती, तब लोगों की आँखों में दौड़ते हुए जहाजोंवाला समन्दर का नक्शा कैसे झूलेगा। और इस समस्त परिस्थिति पर अपना कब्जा करने की इच्छा कैसे जाग्रत हो। लकड़ी की नाव पानी पर तैरती थी, और लोहे के महल हवा में तैरने लगे। क्या हमारे पास ऐसा साहित्य है जो इन दो जमानों को सीधी लकीर रेखा खींचकर जोड़ दे। स्वाद के अभाव में किसी पुरुषार्थमय मिठास पर हमारी तरुणाई ललचे कैसे, और वह लालच साहित्य की कलम पर कैसे उतरे—यदि हवाई जहाजों पर हमारी तरुणाई, न दौड़ कर चढ़ने में उत्साहशील हुई हो और न फिसलकर गिर पड़ने पर पुरुषार्थ का त्यौहार मनाने योग्य हुई हो।

हम बड़े हों या छोटे हमने घर-घर और व्यक्ति-व्यक्ति में मरने का डर बोया है। हमारे लिए मार डालना ही गुनाह नहीं है मर जाना तक गुनाह हो गया है। यूरुप का लेखक मर्द से मर्द बाजू पर दीपक की तरह स्पष्ट और गणित के अंकों जैसे सुलझे हुए विचार प्रकट करता है; किन्तु पुरुषार्थमय साहित्य और चर्चा का बोझ हमसे नहीं सँभलता। हमें रोटियाँ चाहिएँ, राष्ट्र नहीं चाहिए। यही तो कारण है जो हम कभी-कभी कह उठते हैं कि



साहित्य चाहिए, राजनीति नहीं चाहिए। आज के साहित्यिक चिन्तन पर जिम्मेवारी है कि वह पुरुषार्थ को दोनों हाथों में लेकर जीने का खतरा और मरने का स्वाद अपनी पीढ़ी में पावे। यह पुरुषार्थ शस्त्रधारी से नहीं हो सकता। यह तो कलम के धनियों के ही करने का काम है। वे ही इसे करें।





योगी

(१)

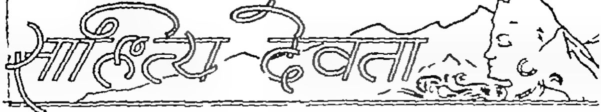
कुछ दिन हुए, एक कहानी सुनी थी। पेरिस के किसी कवि के दिमाग की उपज थी। वह तिथि, उस किताब का नाम, उस कवि का नाम, और स्मृति के दीवालियेपन से उसके सुनानेवाले की सूरत, सब कुछ, मेरे मन से उतर गई—मानो बीते समय के न लौटने का समर्थन करती हो। वे दो पंक्तियाँ भी मिट गईं—सूरज की करारी किरणों के पड़ने के बाद, पड़ी हुई अमृत बिन्दुओं के निशान कैसे ढूँढ़ें ?

(२)

एक योगी था, रंगीन-सा। सूरत, चैन, आचार, विचार, उठना, बैठना,—सब आदमज़ात जैसा। औसत आदमी; पतन उसके साथ खेलता-सा,—उत्थान सूरज की किरणों जैसा दूर दिखाई देता। मानो उसका योग उसकी 'समझ' में था। शास्त्र का देश, शास्त्र का देवता, और समाज का मानव, तीनों, उसका समर्थन न करते। करते भी कैसे ?—इतिहास, कुछ कल होनेवाली घटना को आज कहने ही न लगेगा कोई। वह तो हो चुकने वाली घटनाओं का हथेली के बीजों जैसा गिना हुआ हिसाब है। तब फिर, योगी के योग का कोई दूरबीन से भी कैसे देख पाता ?

(३)

गोंड़ों और भीलों की नगरी-डगरी में एक बड़ा-सा पत्थर ही 'बड़ा देव' कहलाता है। सिंदूर के रंग से रँगीला—और नारियेलि फलों का भाग्य। कितने पशुओं का वध इस देवता के नाम पर नहीं होता। बकरे को या महाप्रसाद चाहिए। रंग देखते ही रक्त-तर्पण सूझता।



जोगी वरदान देता। लोग जय बोल उठते।

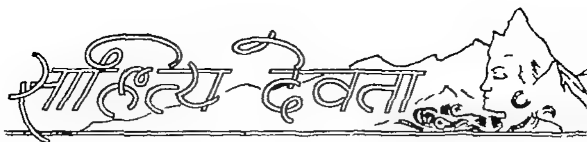
(४)

जोग धीरे-धीरे बड़ा-सा व्यापार बन गया। जीवन की अस्थिर लहरों के नाम पुड़ियाँ लिखी जाने लगीं। 'जा, तू गोरा हो जा', 'जा, तू बड़ा हो जा', 'जा, तू विजयी हो जा', 'जा, तू अमर हो जा'। लोग दंग थे—'यह अपने आप मीठी चीज है—इसमें बाहर से शक्कर नहीं मिलानी पड़ती!'—'इस मिठास से बासी में दुर्गन्ध नहीं आती'। 'इस मिठास में कीड़े नहीं पड़ते—पड़े हुए मिट जाते हैं'। इस तरह जितने मुख, उतनी बातें। जोगी फूला,—लगातार पुड़ियाँ लिखने लगा। वह गड्ढे में बैठा था,—गंगा के उस तट को वह कैसे देख पाता। अपनी 'परिमितता' का उसे इतना उन्माद कि उसे 'तीन लोक' समझता। भला ऐसा 'मर्यादाओं का नायक' क्या जाने कि दुनियाँ उसकी सीमा के भी परे है, और उसकी पुड़ियों से भी अधिक घनी है।

(५)

एक बहन आई, एक दिन। इसके पहले और बहनें आ चुकी थीं। जोगी की शोहरत थी, कि उसके आँसुओं के सर पर टपक लेने के बाद,—मिट्टी खानेवाले बच्चों की माताओं के बच्चे मिट्टी नहीं खाते। इस बहन ने भी प्रार्थना की—'बाबा, मेरा नन्हा मिट्टी खाता है, जरा इसे परख दो!' मिट्टी का पुतला मिट्टी खाने से रोकेगा!—जोगी सहमा। पुड़ी लिख दी!—उसने कहा,—'जाइ परसों आइयो!'

बच्चे की माँ उठी और अंगार बरसती दोपहरी में चली गई, कोसती! असीसती! कौन जाने!



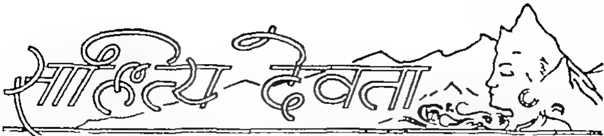
(१)

इस 'पत्थर' का रंग न उतरने देनेवाले, एक मनुष्य ने कहा,—यह भी बे-रँगा न था;—उसकी तसवीर कलम ने नहीं, कुदरत ने खींची थी; हाँ तो, उस मनुष्य ने कहा—बड़े निठुर हो बाबा। धीरे-धीरे तुम असीम होगे, पर तुम्हारा बड़प्पन उस असीम की भी सीमाएँ तोड़ने लगा है।

—"क्यों भैया !" जोगी ने डरकर पूछा। "अरे इस दोपहरी में, बरसते अंगारों में यहाँ कौन मरने आता ! चील अण्डे छोड़ रही है, साँप मोर की छाँह में दुबका जा रहा है, चीता मारे प्यास के गाय के बछड़े के गले से बहता पसीना चाट रहा है, और तुमने धीरे से कह दिया—'माई तरसों आइगा।' यह कोमल पुष्प ! क्या इस गर्मी में दूसरी बार बाहर आकर !"
"पर, माता की ममता को, उगती कली के युग के वैषम्य में, क्यों ढूँढ़ता है रामू !—और फिर मैं बच्चे पर रहम करूँ, यानी उसकी आँखों में अन्तक बनकर पैठनेवाली मिट्टी पर !"

—जोगी ने, अपने बोझीले पतन को, दृढ़ता से, नाम-शेष उत्थान की याद में ठुकराते हुए कहा।

समय बीतते न बीतते तरसों आज हो गया। माई आ गई। बेटा गोद में था। लाल, मिट्टी की याद में बेज़ार। धूप नहीं, झिलमिला नहीं, कुछ नहीं—मिट्टी, मिट्टी। जोगी ने अपने विचारों का आँगन झाड़ा था—बरसों। अब तो एक दिन की साध आज का रोज़गार बन गई थी। उसने दायें-बायें के पार्षदों से, हाथ जोड़कर कहा—"रामू,—ओ श्यामू—इस माई को तो आज भी लौटा दो भाई। मिट्टी मेरे पूते की हो ले, तब मैं इस माई की मनुहार के मोती से भी मिट्टी छुड़वा दूँगा। दुपहरी पर, बिना क्षमा



की पूँजी देखे, कैसे हाथ काटूँ ?"—भगतों की रूखी आँखों में पसीना आ गया। ठीक वैसा ही 'स-लोना' जैसा मुखड़ों पर आता है। नमक के पानी में न जाने क्या क्या गल जाता है। हैवान जोगी का निश्चय भी गल गया।

उसने माली के गले में हाथ डालकर कहा—'मिट्टी नहीं खाया करते राजा!' बाल-सुलभ खिलक ने, मानो हुलकी सिसकने का निश्चय दिया। माँ पगली, हँसकर चल दी—"अब मेरा बेटा मिट्टी नहीं खायेगा।"

(७)

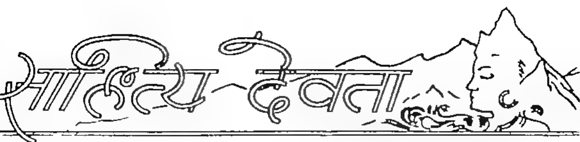
तुम्हारे स्वामी से कहियो,—मेरा बेटा माटी माँगे है—श्यामू एक दिन खबर लेकर आया। हिसाब मिलाने में उलझे हुए पत्थर ने, दूसरे दिन देखा—माई आ गई। बोली महाराज, "लल्ला तुम्हारो कहनो नाँय माने।" उसने घर के दरवाज़ों की तरफ देखा—धूल उड़ रही थी, और सब साँस के साथ पेट में जा रही थी। अपने पानी को सँभाला—कितनी मिट्टी वह रोज़ पीता है। अनाज सँभाला—मिट्टी की कंकरियों का हिसाब न था। उसे, अपनी नस-नस में माटी दीख पड़ी। उसने देखा—बे-छना पानी, बे-बिना खाना और धूलि-धूसरित जगह ही उसके स्वाद के साधन हैं। उसने माई से कहा—"तेरा बेटा, मेरी हुण्डी है माई। जिस दिन वह माटी खाता है समझ कि मेरे भी पेट में माटी है। बीच, बीच का क्या खायेगा?"—

दुखी माँ चली गई। बच्चा गोद में था।

(८)

"क्या हुआ होगा अब?" एक दिन श्यामू ने पूछा। जोगी ने कहा—मिट्टी खाकर तो मिट्टी खाना नहीं छुड़ाया जा सकता भाई! बच्चे को वहाँ ले जाओ, जहाँ लोग मिट्टी न खाते हों।





न खपनेवाला सौदा

कौन ?

" हम हैं। देश के सेवक, समाज के अंग और आपके भक्त।"

तब इस दल-बल के साथ चढ़ाई क्यों की है ? और इतनी पुष्प-मालाएँ लेकर ?

" हाँ; हम आपकी आराधना करने आये हैं। आप हमारा आत्म निवेदन सुनिए।"

आप तो स्वयं जगदीश्वर के नाम से परिचित हैं। आज का प्रत्येक राष्ट्र-सेवी आपकी—जनता जगदीश्वर की—पूजा करता है। तब यह उलटी आराधना कैसी ?

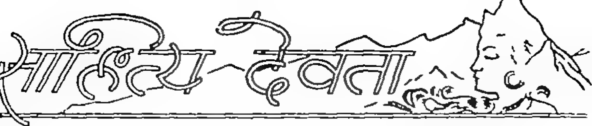
" यह हमारी वीर-पूजा है।"

परन्तु मैं तो अपनी ही पूजा को मस्तक भुकाता हूँ। आपकी पूजा स्वीकृत करने का मुझमें न बल है, न तप है।

" हम तो देश में राम-राज्य लाने के लिए आपका जीवन चरित्र लिखना चाहते हैं।"

तब तो पहले मुझे धनुष तोड़ना चाहिए, फिर निर्वासित होना चाहिए, इसके पश्चात् अपनी जानकी के हरण को बरदाश्त करने के लिए तैयार होना चाहिए, और फिर आपकी एक शिकायत पर गर्भवती जानकी को सदा के लिए निर्वासित कर देना चाहिए। क्या यह सब कुछ आप चाहते हैं ?

" हम तो आपका जीवन चाहते हैं। लिखने के लिए, पढ़ने के लिए और पथ पर चलने के लिए।"



आप वाल्मीकि का अभिनय पूरा कर सकते हो, पर मुझमें नट बन कर राम का अभिनय दिखाने और पुरुषार्थ का मज़ाक़ उड़ाने का साहस नहीं।

"क्यों, क्या हमारी सेवा का कोई मूल्य नहीं है ?"

तुम्हारी सेवा का ? अपार मूल्य है। इतना मूल्य मैंने सारे जीवन में पहले कभी नहीं देखा। परन्तु इस मँहगी क़ीमत पर भी मैं चाँद पर चढ़ने योग्य नहीं।

*　　*　　*

कितने शांत हो इस समय तुम, करोड़ों लहरों में बँटे हुए समुद्र के समान; किन्तु तुम्हारी शांति को भयंकर होते कितनी देर लगती है ? तुम सागर हो। तुम्हारी लहरों के बीच अपने को सिन्दबाद में डालने का—न हो, न हो वह लालच।

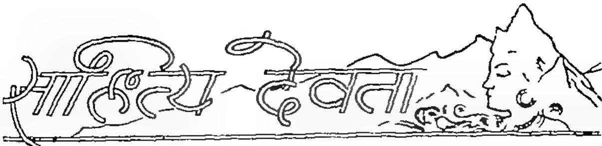
हे अनन्त ! मुझ सान्त के साथ न खेलो। समुद्र के गर्भ में भी ज़मीन है। तुम्हारी तरलाई के नीचे भी क्रूरता है। समुद्र की सतह मिलती है, तुम भी एक सन्देश के दीवाने हो उठते हो। समुद्र ही की तरह हृदय में ऊँचे हो, नीचे हो, पथरीले हो। स्थिर हो, किनारे न होकर भी ऊपर नहीं चढ़ते अथाह हो, अस्थिर और नाशवान् लहरों में बँटे हुए।

जब तुम्हारी लहरों के सब तार मिले हुए हों, तब तुम संगीत जैसे मोहक, मधुर, आकर्षक और प्राण-संचारक हो। उस समय किसी ग़रीब की 'पाप-भार' से लदी हुई 'तनिक-सी नैय्या' भी तुम्हारी गोद में खिलवाड़ करती है। किन्तु, जब तुम्हारी लहरें एक-दूसरे से टकरा उठतीं

हो, जब तुम्हारी लहरों के तार बे-मेल हो गये हों, उस समय?—उस समय तरल तरङ्ग-मालाओं से बन कर भी तुम कर्कशा हो, कठोरा हो, प्रलयङ्करी हो। उस समय तुम्हारी अपनी ही एक ध्वनि दूसरी से मेल नहीं खाती।

गुमराह राहगीर! क्या इन्हीं तरङ्ग-मालाओं से खिलवाड़ करने का लालच है? तो, ठुकरा कर इसकी वीणा के लहरीले तारों को न तोड़। तार टूटते ही यह उपेक्षित हो पड़ेगी। यह अपने पर होनेवाले प्रहारों का चीत्कार से बदला चुकाने उठ बैठेगी। उस समय इसकी यह गर्जना किसी से न सही जायेगी।





आशिक

"मुझे क्यों हटाते हो ?"

मैं दोनों पर एक साथ प्यार नहीं कर सकता।

"बारी-बारी से सही।"

यदि तेरे पास आता हूँ तो उसके पास नहीं आ सकता; वहाँ पहुँचने पर तेरी ओर आकर्षण नहीं होता।

"मेरे सौन्दर्य को देखते हो; मेरी नवीनता को।"

मिठास ही तेरा शस्त्र है; जानता हूँ।

"मैं साफ हूँ। स्पष्ट दीख पड़ती हूँ। प्रत्यक्ष फल देती हूँ। मेरी दया के बादल बरस कर विश्व को हरियाला करते हैं।—'वह धुँधला है, काला है।' श्याम कहकर ही तो तुम अपना सर पचाया करते हो।"

हाँ, तू गिलास में भरा हुआ हलाहल है। स्पष्ट दीखती है, प्रत्यक्ष फल देती है, जो तेरे हाथ पड़ा सो साफ है। वह महान् है, गहरा है, और श्यामघन की तरह काला है। तेरे और मेरे पास उसकी उज्ज्वलता को देखने के लिए आँखें कहाँ हैं ?

"क्या इसका नाम अन्ध-श्रद्धा नहीं है ?"

क्या तेरा नाम अन्ध अश्रद्धा नहीं है ?

"बड़प्पन उसी ओर क्यों है ?"

तू बिना बुलाये ही मन्दिर में प्रवेश करती है। आती है, मनुहार करती है। लिपटती है, चिपटती है। और उनके पास मुझे स्वयं जाना पड़ता

है । यहाँ मेरी रुचि की गुलामी नहीं की जाती । उस द्वार पर 'ठहरो' सुनकर मुझे प्रतीक्षा की घड़ियाँ बितानी पड़ती हैं ।

"और वे जब कह उठते हैं कि :—

'कोई कितना सताये, छोड़ना हरगिज न कुरसी को ।' तो ?"

तो ?—मेरा जवाब होता है :—

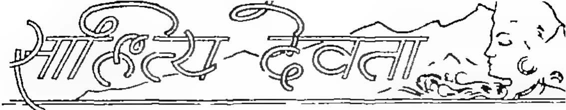
'जो आशिक है वो साहब छोड़कर दीवार जाता है ?'

"तब हमारा क्या होगा ?"—वह दिग्विजयिनी बोली ।

मेरे पास क्या उत्तर था ? सिवा इसके—

मेरे जीवन की सुनहली साथ बनकर तुम भी चल पड़ो, उसी सजीले साँवले श्यामघन की ओर ।





असहाय श्यामघन !

मेरी श्यामलता का, मेरी उफ़क का, मेरे श्यामल-हृदय की तरलता का व्रत धारण किये रहनेवाली हिम-कंकरियों का, मेरे लिए तरसती हुई कृषकों की आँखों का, और मेरी याद में कुम्हलाते हुए हरियालेपन का, ज़िक्र करके, प्रभंजन, तुम मुझे भ्रम में मत डालो।

जगत् की बोझीली और गन्दी वायु से परे, मेरे आसमान में ऊँचे पर विचरने, और नगाधिराजों के अगम और अछूते शिखरों से नित्य आलिंगन करने पर, तुम वृक्षों के पत्ते लेकर, प्रियतम, तालियाँ मत बजाओ। देखो, मैं पथ भूल जाऊँगा।

प्रिय, वह तो तुम हो, जो मुझे लिये-लिये न जाने कहाँ-कहाँ घूम रहे हो।

प्राण, तुम छुपे रहकर, जगत् पर जीवन ढुलकाने का सारा गौरव मुझे भले ही दे दो; किन्तु वे लोग धोखे में कैसे आयँगे, जो प्रतिक्षण अनुभव करते हैं कि जीवन श्वास की डोरी पर ठहरा हुआ है।

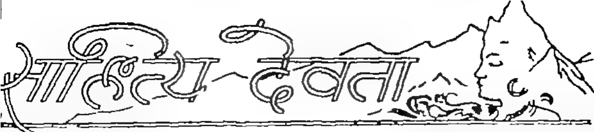
सहारे मेरे, मैं तो सदा ही तुम्हारी गति का गुलाम, तुम्हारी मर्ज़ी का मोहताज हूँ। मैं तो मिटने की, मिट जाने की वस्तु हूँ,—अनित्य हूँ। नित्य तो तुम ही हो, अनिल। चाहे तुम मेरे साथ खेलो चाहे मुझे अपने साथ खिलाओ।

कभी मेरा पर्दा बनाकर सूरज को ढाँक दो, कभी मेरा झंडा बनाकर सूरज के राज्य को श्रीयुत कर दो, कभी मेरा नगारा बनाकर ग्रीष्म को चुनौती

देने लगो, कभी मेरे घर्षण की चंचलता का प्रदर्शन कर, अन्धकार पर वार पर वार करो, और कभी मेरी सेना बनाकर तपन और जड़ता पर टूट पड़ो; परन्तु मैं यह कैसे भूलूँ कि मुझे तो, तुम्हारी, हाँ केवल तुम्हारी मर्ज़ी पर बूँद-बूँद होकर गिर जाना है।

मेरी श्यामलता के लहरीले वाहन, मेरी तरलता के अदम्य आवाहन, मेरे जीवन के कण-कण को वहाँ बखेर दो, जहाँ तुम्हारी महर हो।





तुम आनेवाले हो

मेरा सारा बाग़, बिना मौसम के ही फूल उठा,

—इसलिए कि तुम आनेवाले हो।

और फूल भी नीले हैं, पीले हैं, लाल हैं, हरे हैं, बैंगनी हैं, नारंगी भी हैं।

मगर इन फूलों पर गूँजनेवाले परिन्द सब एक ही रंग के हैं, कृष्ण, श्याम, काले।

इन गूँजनेवालों में से एक कहता है, आज उनके एक-एक अपराध उनके सामने रख दो। बहुत सहा, अब न सहो।

दूसरा कहता है—समय को भ्रम मत बनाओ। भ्रम को समय बनाओ। प्राण दो, प्रणय दो।

तीसरा कहता है—पुष्प में बन्द होकर, फिर निकल आना कैसा! प्रणय का खेल खेलकर प्राण का मूल्य करना कैसा!

और, इन गूँजनेवालों को, मैं अपनी आशाओं का प्रतिनिधि कहकर, इनकी चञ्चलता में, कितनी उज्ज्वलता का अनुभव करता हूँ।

—इसलिए कि तुम आनेवाले हो।

तुम आनेवाले हो इसलिए—मन का हर विचार, उसकी हर वेदना आनन्द हो उठी है।

तुम आनेवाले हो इसलिए—काली ज़मीन अपने पर हरे चित्र, हरियाली अपने पर लाल चित्र, फूलों की लाली अपने पर भ्रमरों के काले चित्र बना रही है।

साहित्य-देवता

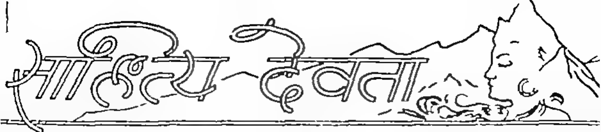
तुम आनेवाले हो इसलिए—काले आसमान की ज़मीन पर, मटमैले बादल चित्र बना रहे हैं, और बादलों में सुनहली नागन बनकर बिजली चित्रित हो उठती है।

तुम आनेवाले हो इसलिए—समन्दर के मोतियों के स्वाद के खारे हो जाने की कल्पना कर, आसमान, ठंडे-मीठे मोती बरसा रहा है।

तुम आनेवाले हो इसलिए—सूरज की किरणों ने घर जगमगा दिया है, वायु ने ठंडक भर दी है।

और, अब तुम्हारा सन्देश आगया; उसमें युगों-युगों का तुम्हारा वही वाक्य लिखा हुआ है—तुम आनेवाले हो।





मुरलीधर !

'क्या तुम सङ्गीत हो ?'

तुम मेरे सङ्गीत नहीं हो। आलापों की तरह तुम मेरी मर्जी पर लौटते कहाँ हो ? माना कि तुम्हारी कृपा के बादल परस्मिपार बरस पड़ते हैं; परन्तु उस समय तुम मेरी मलार नहीं बने होते।

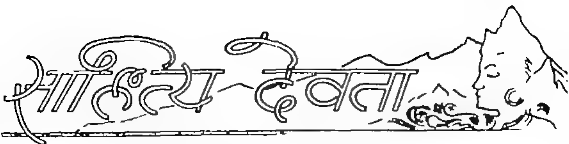
—'तब क्या तुम मेरी मृदङ्ग हो ?'

हाँ, तुम मेरे प्रहार सह लेते हो; किन्तु मेरे बन्धन में जकड़े जाने के लिए कब तैयार होते हो ? मीठे बोलते हो; परन्तु मुँह पर आटा लगाने की रिश्वत उस मधुराई के बदले तुम्हें कब देनी होती है ? और 'सब कुछ' मरे, मैं तुम्हारी वाणी पर यह इलजाम कैसे रख सकता हूँ कि तुम बाहर बोल रहे हो; तुम अन्तःकरण रहित हो ?

'आह ! तब तुम वीणा हो; नारद के नाद ब्रह्म से विश्व मोहित कर देनेवाली !'

परन्तु वीणा तो मेरी गोद में रहती है। तुम कहाँ यह शर्त स्वीकृत करते हो ? माना, मन चाहते ही वीणा स्वर देती है, मनुहारते ही तुम दौड़ आते हो; किन्तु मेरे स्वर पर सदा ही तो तुम्हारे तार नहीं मिलते। स्वर से स्वर न मिलने पर स्वर लहरी से विश्व भर देनेवाली वीणा को गोद में लेकर, और हृदय से लगाकर भी, मुझे उसके कान ऐंठने पड़ते हैं। पर, हाय ! तुम तो मेरे कानों को वीणा बनाने के लिए घूमते हो।

—'तब मधुर मुरली के सिवा तुम और क्या हो ?'

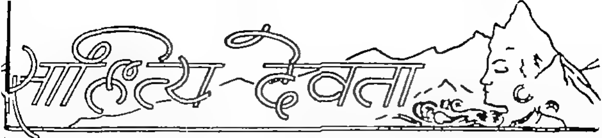


पर अपने ओठ पर तुम्हारे मुँह को रखकर अपनी वेदनाओं और उल्लासों की गूँज कहाँ मचा सकता हूँ ! और तुममें छिद्र ! और उन पर मैं अपनी उँगलियाँ रख सकता हूँ !

आह काना, तुम न सङ्गीत हो, न मृदङ्ग हो, न वीणा हो न मुरली हो,—

'तुम तो मुरलीधर हो ।'





गृह-कलह

"वे आयेंगे नहीं; किन्तु इसी रास्ते से होकर गुज़रेंगे।"—सुना कि बिजली दौड़ गई।

इतनी-सी देर में अरमान कैसे निकलेंगे? मुँह ने कहा, मुझे मस्तक झुकाकर यह कहने दो:

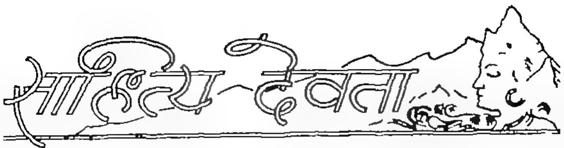
"हम तुम्हारे कहलाने का अभिमान करते हैं।"

जिस समय, बड़े दिनों, उन्होंने इस ओर से गुज़रने का अपराध किया, तब अपनी फुलझड़ियाँ छोड़ने के बजाय उन्हें कुछ कहने, कुछ पूछने, कुछ गुनगुनाने देना। श्रुति का पथ तो छोड़ना नहीं चाहिए?—कानों ने कहा।

नेत्र खीझ गये;—"अरे, जिन्हें देखने के लिए रातों को, जागकर, शीत-ऋतु में भी छोटा बना दिया और पुतलियों के कारागारों को धो-धोकर साफ़ रक्खा, जब उनके आने का समय हुआ तब हमें बन्द कर मस्तक झुकाने और अपना रामायण गाने बैठ गये! हमें अपनी अन्तर की काल कोठरी में उन्हें कैद कर लेने दो। वहीं आजीवन अलख जगाते रहना।"

किन्तु हाय, मैं इस गृह-कलह ही में लगा रहा; वे आये और चले भी गये।





इसी पार

"मैं इस तरफ़ होता हूँ, तुम उस पार हो। चलो, खेलें।" वे बोले।

ना, हरगिज़ नहीं—मेरा उत्तर था।

"तब तुम कैसे निर्भय हो!"

मैं अपनी निर्भयता का तुम पर प्रदर्शन नहीं किया चाहता।

"तब निर्भयता झूठी है।"

यह खरी है।

"प्रमाण!"

इसका पिता रोष नहीं है, इसकी माता उच्छृंखलता नहीं है, इसकी बहन अविचार-पूर्ण आलमस्ता नहीं है, इसका भाई परिणाम की गंभीरता का अज्ञान नहीं है।

"तब फिर क्यों नहीं बहादुर की तरह उस ओर होते!'

अरे क़ैदी, मैं तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता।

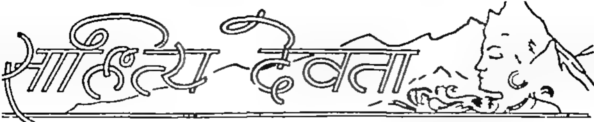
"अरे, यह तो खिलवाड़ है!"

तुम्हें तो वरदान और शाप, उत्पत्ति और प्रलय सभी खिलवाड़ हैं। किन्तु, मैं तो ऐसा कोई खेल नहीं खेलूँगा जिसमें मैं और तुम, दोनों, एक ही पार न रह सकें।

*   *   *

मैंने अपने सारे प्यालों का बचा-खुचा पानी भी औंधा दिया है, इसलिए कि हम दोनों इसी पार रहें।

o



मोहन

'धृष्टता'! इस इलज़ाम का बोझ मैं कहाँ छिपाकर रखूँगा?

'तू मोहक भले हो; परन्तु जब तेरे स्वर ही नहीं हैं तब संगीत तेरे नाद पर कै दिन रीझेगा? मलार की तरुणाई, आसावरी की मस्ती और सोरठ की वेदना क्या तेरे हवाले की जाय?'

पर कान तो हैं। क्या मैं सुनने का भी मुस्तहक़ नहीं हूँ?

'केवल वे ही सुन सकते हैं जिनके मस्तक डोल सकें।

तब क्या मेरे उपहारों का कोई उपयोग नहीं?

'वे बोझ मात्र हैं। तू उनका बोझ ही खींच सकता है।'

अरे सरल, क्या इनका कोई उपयोग नहीं?

'वे संदेश-वहन कर सकते हैं। और यदि तू सँवारे तो—'

प्यारे, तुम्हारा काम भर निकल जाना चाहिए, मुझे उन्हें सँवार कर क्या करना है? पर क्या मैं एक बात पूछूँ?

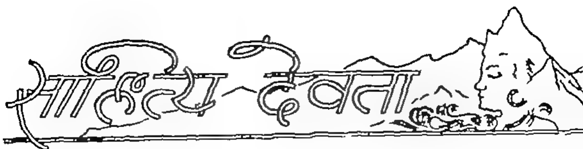
'क्या?'

तुम्हारा नाम?

'मोहन'

क्या, तुम्हारे संदेश के बाद भी मेरा कण्ठ वैसा ही रह जायगा जिस पर तुम्हें शिकायत हो? क्या तुम्हारी मोहनी यहीं आकर कुंठित हो जायगी?





तस्मात् मह्यं मे नमः

मैं—गुरुदेव, मेरा पहला चित्र बिगड़ गया है। कितना विकृत हो गया है!

वे—फिर!

मैं—तोड़ डालता हूँ, दूसरा बनाता हूँ।

वे—अरे, पहली आशाएँ कभी संभावनाओं पर बैठकर नहीं आईं।

मैं—परन्तु तसवीर में मेरी आत्मीयता जो है!

वे—क्या तेरी आत्मीयता का दुनिया में उषःकाल आया ही नहीं! केवल प्रभात ही आया—यह लिख देना है!

मैं—मेरे लिए दूसरा चारा क्या है! कौन-सी सेहत है!

वे—चारा है कि रंग अभी सूखे नहीं हैं और क़लम हाथ में है। सेहत है कि कागज़ अभी शेष है। लोग एक अन्तिम तसवीर बनाकर भी अमर हो लेते हैं। तेरी तो अभी पुस्तिका खाली पड़ी है!

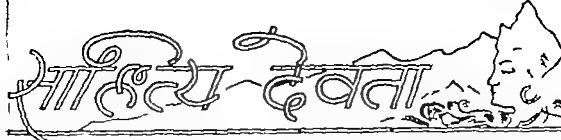
मैं—लोग जो हँसेंगे!

वे—पहले चित्र को देखकर तुमपर हँसेंगे, दूसरे चित्रों को देखकर अपने आप पर। उस समय भूल का मूल्य चुकाकर भी, अस्तित्व की अनन्त राशि तेरे पल्ले पड़ी रह जायगी।

मैं—मेरे मास्टर! मेरी मूर्खता के प्रदर्शन में तुम किस सुख का अनुभव करते हो!

वे—मेरे जीवन के शाप, तुम्हें वरदान बनाकर रखना चाहता हूँ।

मैं—यह क्या मेरा गंदा चित्र ज़िंदा रखने से होगा!



वे—अपने असफल प्रयत्नों को, असफल कहू, गन्दा न कहू। यदि दूसरा चित्र जीवन की कला का मन्दिर होगा तो पहले चित्र को उसकी सीढ़ी कहलाने का गौरव प्राप्त होगा। लोगों के मस्तक रखने के लिए मन्दिर प्रदान करोगे परन्तु चरण रखकर वहाँ तक आने के लिए?

मैं—इस चित्र को नष्ट कर दूँ तो?

वे—तो तुम कला के हत्यारे के नाम से बद-नाम होगे। और यह, तुममें निवास करनेवाले चित्रकार की बाल-हत्या होगी।

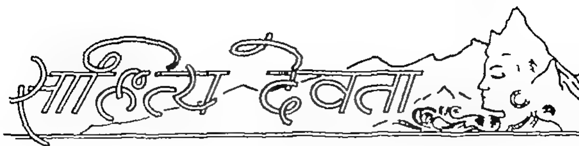
* * *

अब मैं चित्रवाले कपड़े पहनता हूँ। श्यामाम्बर बिछाता हूँ। पीताम्बर ओढ़ता हूँ। चहकती हुई चिड़ियों, झूमते हुए वृक्षों, बोलते हुए झरनों की आराधना करता हूँ। खाने के पकवानों पर, बजाने के मृदंग पर और कान उमेठने की वीणा पर, मुझे मेरे आराध्य की तसवीर खिंची दीखती है। दौड़ने, खेलने, रोने, गाने, मरने, मारने और मिटने-मिटाने के समस्त ढंगों में, मेरे मित्र! एक नया चित्र बनकर, मेरी कलम के घाट उतरते, तुम्हीं दीख पड़ते हो।

आह! जब नीले रंग में चित्रित, हरी घास पर बैठी हुई, बीन बजाती, तुम्हारी मुग्ध-हास्य-मयी रङ्गीन तसवीर को मैं मस्तक झुकाता हूँ, तब मेरा यत्न होता है कि मेरे मुँह से, 'तुभ्यमेव समर्पितम्' निकले। किन्तु ज्यों ही मैं इस बात की चिन्ता करने में उलझता हूँ कि कहीं मेरे आँसू टपक कर तुम्हारे चित्रित नाखून की लालिमा न धो डालें, त्यों ही मेरी ज़बान से बे-अख्तियार निकल पड़ता है:

"तस्मात् मह्यं मे नमः।"





यह वाणी

यह एक 'वाणी' है, जो लोक-जीवन के हृदय को सोच-सोचकर चिल्ला रही है और चिल्ला-चिल्लाकर सोच रही है। एक धुआँ है, जो उनकी ओर से उठ रही है, जिनकी भुजायें उठ नहीं पातीं, और उनका भाग्य लिख रही है, जिन्हें शासन ने लिखना-पढ़ना नहीं सीखने दिया।

एक वाणी है, जो झोपड़ियों की कराह को राजमहलों में ले जाकर टकराती है और राजमहलों के अपमानों को झोपड़ियों के सेवा-पथ में मिले प्रभु के प्रसाद की तरह ग्रहण करती है।

एक वाणी है, जो गलियों में, कूचों में, झोपड़ियों में, महलों में, पहाड़ों में, गुफाओं में, भीड़ों में, एकान्तों में, विजयों में, विजय-पथ के पराजयों में, 'चले चलो' का स्वर लिये, बराबर सुनाई पड़ती चली आ रही है।

एक वाणी है, कि समस्त धर्मों के देव-मन्दिरों में जिसका रथ गतिशील, जिसका पथ उन्मुक्त है—किन्तु काँपते सिंहासनों का आडम्बर है कि उस वाणी को वे न सुनें।

एक वाणी है, जो कि जहाँ तक भारत का नरमुंड है वहाँ तक, संदेश वाहिनी बनकर, यह अभयत्व है और जहाँ तक विश्व-हृदय है, वहाँ तक विश्व-विभु की प्रार्थना के गौरव से गीली और कोमली है।

एक वाणी है, जो संकटों को प्रार्थना की कड़ियाँ बनाकर बोलती है और विनाश की चमकियों में विभु की सुनहली आशा के दर्शन करती है। करुणा है कि जो लोकजीवन का दलित कलेजा बन उठने की चाह बनकर खड़ा

है। मुँह है कि मुक्त-हास्य में विश्व-परिवर्तन के काल महाप्रलय की वाणी बनकर आ रहे हैं। भुजायें हैं कि कष्ट-भोगी के गले के हार हैं, अथवा शक्ति के निर्देश की ललकार हैं, अथवा दबे हुए के लिए दंडित होने का दूना स्वीकार है।

वह लोक-जीवन के लिए प्रताड़ना सहता है। लोक-जीवन की भी प्रताड़ना सहता है, और उसका जीवन पतनोन्मुख लोक-जीवन की रुकावट के लिए स्वयं प्रताड़ना बन जाता है; क्योंकि वह लोक-जीवन को प्यार करता है।

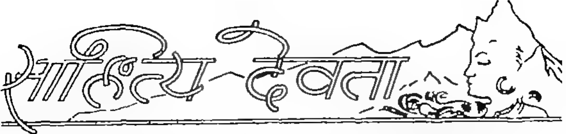
लोक-जीवन की घड़ी बनकर, उनकी भैरवी बनकर, उनकी साँस बनकर, उनकी उसाँस बनकर और उनका मस्तक बनकर स्थिर रहता है। संकट-गृह में, कारागार में और वध-गृह में वह मुक्ति की एक ही वाणी बोलता है। रूढ़ि के गुमराहों को वह प्रभु-पथ का पता देता है। देश-घातकों और विश्वास-घातकों में वह उनमें निवास करनेवाले प्रभु को ढूँढ़कर जगाता है। निंदकों की सहिष्णुता उठाता है, क्रूरों की कोमलता जगाता है, और पथ-भंगों को वह अपने कलेजे पर से पथ-दान करता है।

लोक-जीवन के भाग्य का भविष्य वह लिखता है। किन्तु विश्व की गुत्थियाँ सुलझाकर तख्ता नहीं बनना चाहता।

वह कवि है। लोक-जीवन के आँसुओं से गीला, लोक-जीवन की आहों से दरदीला, और इस इच्छा से दूर कि वह कवि हो, और इस बात का बिना जाने कि वह कवि है।

वह न सम्राट् है, न सरदार। न धर्माचार्य है, न व्यवस्था देनेवाला। वह एक वाणी है, जिसके आगे विश्व लाचार है कि उसे सुने। उसमें कराह

→ यह वाणी



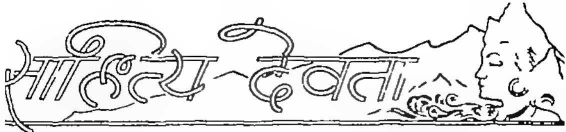
है, जिसमें छोटि-छोटि दुखियों की आत्मा सिसक रही है। उसमें गर्जन है, जो श्रोताओं की अकर्मण्यता को लज्जित कर रहा है। उसमें विश्वास है, जो बलि-वेदियों और कमज़ोरी स्वीकार करनेवालों का अपनी हृदय की धक-धक के बीच रक्षण कर रहा है।

वह वाणी है, जो राजाज्ञा नहीं है; किन्तु छोटि-छोटि आदमी, छोटि छोटि मानव, जिससे बँधे हुए हैं; अनन्त सेना नहीं है, किन्तु उसके एक विश्वास पर छोटि-छोटि व्यक्ति ठहरे हुए हैं।

वह वाणी है, जो दण्ड देने में अपने को भी क्षमा नहीं करती; जो बुराइयों का अपने सिर पर लेती है और अच्छाइयों को प्रभु के चरणों पर चढ़ाती जाती है।

वह वाणी हर देश में है हर जाति में है, हर धर्म में है। कभी आज्ञा से और कभी अवज्ञा से पैग़म्बरों का अनुवाद करके वह वाणी अमरीका में रूज़वेल्ट, इँग्लैंड में चर्चिल, रूस में लेनिन, जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी टर्की में मुस्तफ़ा कमाल, चीन में च्याँगकाई शेक, और विश्व में न जाने कहाँ-कहाँ क्या-क्या कही गई। किन्तु गुरुदेव रवीन्द्र की बोली में भारत [illegible] वह कविता, वह सूझ वह साहित्य वह पुरुषार्थ, उस वाणी के स्वप्नों का जागरण, सेवाग्राम की झोंपड़ी में निवास करता है। उधार लिया हुआ यह चंदन मैं आप को सौंपता हूँ।





संवाददाता

मैं हूँ संवाददाता। संवाद देना मेरा काम है। दुनियाँ में जिसे बीस बार गाली देकर भी, फिर-फिर देखे बिना नहीं रहा जाय, उसे कहते हैं अखबार। दुनियाँ के ज्ञान में पहिले शोधक, फिर चिंतक, फिर कवि फिर लेखक, फिर पत्रकार और फिर आता है संवाददाता। अपनी इस पल्टन के गुणों में एक-दूसरे से कोई मेल हो या नहीं, किन्तु संवाददाता क्या नहीं होता!

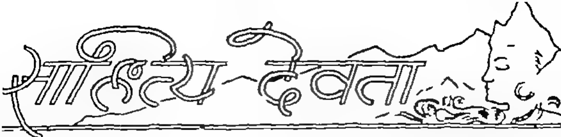
वह शोधक की तरह पते लगाता है, चिंतक की तरह वस्तु या घटना का ताल सँभालता है, कवि की तरह कल्पना की वायु-तरंगों पर स घटना के कण बीन-बीन कर रखता है, लेखक की तरह चर्चा करता है, सम्पादक की तरह अपने ज़माने की जनता की रुचि सँवारता है, और न जाने किस दिशा में, न जाने कब टूटकर, कभी परिस्थितियों में पड़कर, कभी उनसे झगड़कर, और कभी उनका निर्माण कर, रचना में रत्न-निर्माण करता है, किन्तु स्वयं कन्द-मूल-फल पर सन्तुष्ट होता है।

धर्मशाला में मेरी ज़रूरत होती है, अनाथों के अड्डों पर, शिरर का साहित्य गढ़ा जाता है, रेलवे स्टेशन के तीसरे दर्जे के वेटिंग रूमों में जनता की भाषा फूटती है, वेश्यागारों में शराब और शास्त्र में लिपटा हुआ मानव साँप अपना स्पष्ट स्वरूप, स्वर और ज़हर प्रकट करता है, वहाँ मेरी ज़रूरत होती है। मेरे साहस में जगत् की थाह की अँगुली, मेरे भेष बदलने में जगत् का अनुभव, और उसके रहने और भूखे सोने में विश्व के कष्ट भाग पड़ने का एक क़दम छुपा होता है। दो की कथना हूँमी में यदि मैं दूसरा हूँ

तो समाचार का स्वामी हूँ और तीसरा हूँ तो समाचार का मोहताज । किन्तु यदि चौथा हूँ तो फिर एक शताब्दी पीछे हूँ । गङ्गा के घाटों पर नाव से लोग उतरे नहीं कि उन्होंने अपने मन की कहानी कही, और मैं मानो जीने के लिए साँस पा गया । जेल से मुकदमे पर अदालत में जाते हुए क़ैदी या हवालाती से मैं मिल लिया कि बस काली ऊँची दीवारों की कालिमा काँप उठी । जूए के अड्डों पर मैंने गश्त लगाया कि एक के हज़ार देखनेवालों को बुखार आया । गरज यह कि मैं हूँ संवाददाता । मुझसे मुकुट डरते हैं, सिंहासन हिलते हैं, और शस्त्रोंवाले हाथ शास्त्रों की शपथ खाकर अपनी सफ़ाई देने दौड़ते हैं ।

ध्वनि में मन्दिर का घंटा बजता है, या आपस का टंटा, यह मैं ही जानता हूँ । मसजिद में, मज़हब को किस तरह ठोक-पीट कर कौम का बनाया जाता है, मुझे पता है । गिरजे में एक बपतिस्मा के नीचे जितना अन्धकार छिपा रहता है, वह मुझसे अपना दुखिया और अपनी करतूत कहता जाता है ।





लहरें चीर : विजया मना

परायेपन के इस पारावार में, क्या अपने अस्तित्व को डूबने से बचाये रहना, और आराध्य—तट तक पहुँचाना है ? तो लोहे की दीवारें, सागर के तरल वक्षस्थल पर दौड़ाना, और पानी में आग लगाना सीखिए। क्या अपने दुर्भाग्य को दो टुकड़े कर देना है ? तो उठिए, सागरों और महासागरों का आमन्त्रण स्वीकृत कीजिए दुर्भाग्य समुद्र की लहरों में आ छुपा है लहरें काटते चलिए, दुर्भाग्य, और बेड़ियाँ, दोनों कटते चलेंगे।

व्याख्यान, लेख, और कविताओं से यह न होगा। मल्लाह चाहिए। वह अज्ञान न हो, लहरें उसे निगल जायेंगी; वह अल्हड़ न हो, लहरें उसे खिलवाड़ बना लेंगी; वह कसा हुआ हो, वे उस पर कुरबान जायेंगी—नीचे रत्नों से भरा समुद्र-गर्भ और ऊपर नक्षत्रों तक का राज्य, वे अपने प्रियतम पर वार देंगी। खूबसूरत युवा, पतवार हाथ में ले। यही तेरी शोभा है।

पत्नियाँ कहें, उन्हें मल्लाह सेनानी पति चाहिए। बेटे कहें, उन्हें जहाज के कम्पास पर बैठ, दिशा-दर्शन करानेवाली माताओं की ममाय ईश्वरी चाहिए।

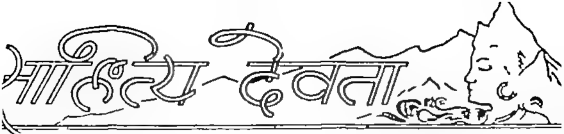
यदि देश के सीमोल्लंघन की यह तैयारी न हुई, तो पाले हुए प्यार उगकर किसका मुँह देखेंगे, घट-स्थापना का घट किसके बल रत्नों से भरे जाने की साध करेगा, और यह मन्दारदीपक किस कुल-भूषण की आरती उतारेगा।

जंग लगी हुई तलवार से सीपू काट के, और उस पर सिन्दूर लगाने वाले कायर, अस्तित्व के जहाज का कठिनाइयों के सागर की तरंगों पर तैरा

साहित्य देवता

द, और मल्लाह बनने के लिए आगे बढ़। ब्राह्मण, तू समुद्र पूजन को चल; क्षत्रिय तू लहरों को काटने उठ, वैश्य तू समुद्र पार से लक्ष्मी का लौटा और शूद्र तू अपने सत्कर्म से, समस्त शरणागतों की रक्षा कर। खोये हुए वे दिन ढूँढ, जिसे अफीमची चीनी भी ढूँढ लाये, अमानुल्लाह ढूँढ लाये और कमालपाशा ढूँढ लाया।



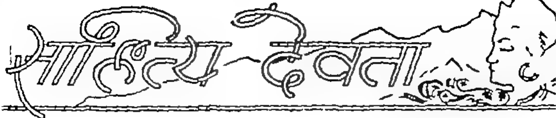


गिरिधर गीत है; मीरा मुरली है

कवि के घर निर्धनता से अकाल नहीं पड़ता, वह तो पड़ता है, नीरसता का मौसम आ जाने पर। उस समय उसके विचार और भाव, वाणी के वाहन पर बैठकर विजय-यात्रा करते हिचकने लगते हैं। ज्ञान की परिमितता में भाषा का उपयोग, हृदय-कम्पन होता है, और ज्ञान का बोझ लदने पर, भाषा से हृदय छुपाने का मसला सुलझाया जाता है। किन्तु कवि के पास, भाषा, ज्ञान में और अज्ञान में, सदैव हृदय के ईमानदार प्रगटीकरण का साधन होती है। कविता को कुछ लोग, विलास या विनोद मानते हैं। जो लोग अपने शास्त्र-दान को भी विलास मानते हैं, उन मनस्वियों को तो कविता को भी विलास और विनोद मानने का अधिकार है, किन्तु यथार्थ कविता विलास नहीं, वह तो एक निर्माण है, महान् निर्माण है। हिमालय की तरह स्थायी, गंगा की तरह उपयोगी, सूर्यकिरणों की तरह आवश्यक, और वायु की तरह अनिवार्य। लोग कहते हैं, विज्ञान की बाढ़ में, कविता का विनाश-काल आ रहा है। जो लोग, तुक मिलाने के सूत्र पर उराहते हुए आम की डालियों को कविता कहते और मानते हैं, उनकी कविता तो कितनी ही बार मर चुकी; आज भी वह कविता मरने ही के लिए है। किन्तु जो लोग कविता को समय के पंख मानते हैं, उन्हें कविता के मरण की बात पर विश्वास कैसे हो ! जब तक हृदय है, और उसमें सुकोमल मनोभावों का आगमन है, जब तक मनुष्य के हृदय पर, मनोभावों का असर होना रहता है, तब तक कविता अमर है। हाँ, छन्द न रहें। हम छन्दों के मानी ही ग़लत समझें, तो इसमें क़ुसूर किसका ! प्राणों की कविता का छन्द शरीर

है, मनोभावों की कविता का छन्द हृदय है, आँखों की कविता का छन्द पुतलियाँ हैं। विधाता ने, अपनी प्रत्येक वस्तु, पदार्थ विशेष में छुपाकर रखी है। छन्द के मानी ही, छुपाकर रखने के हैं। यह सत्य है कि काव्य के संकेतों और कला के उन्मेष में, अनुकरण मरण है। परन्तु, हम एक 'मीरा' और उसके 'गिरिधर' की नकल करने के बंधन से नहीं छूट सकते। मीरा है प्रकृति, गिरिधर है प्रभु। गिरिधर भाव है, मीरा उसका छंद है। गिरिधर गीत है, मीरा मुरली है। कवि और कविता का यही तो सम्बन्ध होता है। क्षत्रियों के प्रति विद्रोह करनेवाले परशुराम को अपनी तपस्या याद ही न रही उन्होंने क्षत्रियों का विरोध क्षत्रियों ही के उपकरण लेकर किया इसीलिए उनकी तेजस्विता ने हार खाई; और एक क्षत्रिय के हाथों उन्हें अपना राज-दंड सौंपना पड़ा। कवि और प्रभु के बीच तो और भी यही टेढ़ है, हम तो प्रभु के खिलाफ विद्रोह करते समय लाचार हैं कि प्रभु ही के उपकरणों से काम लें। हाँ, हम यह भले कहते जावें कि ये उपकरण 'प्रभु' नामक किसी 'जानवर' के नहीं, ये प्रकृति के उपकरण हैं, और प्रभु नाम की कोई वस्तु नहीं। ठीक है, पर नाम बदलने के मानी, क्रिया बदलने के तो होते नहीं। मैं तो कविता की बात ही लिख रहा था। हाँ, तो कविता में हम प्रभु और प्रकृति का अनुकरण करने को बाध्य हैं; क्योंकि उनके खिलवाड़, कवि के शब्दों में, नवीन अर्थों का उदय करते रहते हैं।





'—के साथी से—'

मेरे स्वर में स्वर न मिलाओ गायक, मैं दर्शकों की बैठक में से गुनगुना उठा हूँ।

मुझ पर दर्शक हँस उठे हैं, निकट के मुखड़े दूर हो रहे हैं, दूर के मुख पर अँगुली उठा रहे हैं;—देखो ये अँगुलियाँ तुम पर नहीं उठी हैं—इन्हें तुम अपने पर न उठवाओ।

मैं तो तुम्हारे साथ उठने आया था गायक, तुम मेरे स्वर के साथ किस उतार की ओर चले?

जिस तरह जी की कालिमा और जीभ का राम नाम दोनों, एक-दूसरे से दूर रह लेते हैं, गायक उतनी ही दूर मुझसे तुम्हें रहना होगा।

जरूरत नहीं कि हम एक-दूसरे को देखें, स्मरण की, दर्शन की डोरी से, दो युग जुड़ लेते हैं गायक, मींड के खिंचाव में उतार से चढ़ाव जुड़ा हुआ है। जरा ठहरो, तुम वह न गुनगुनाओ जो मेरा अपना है, और जो किसी के कंठ पर चढ़कर न लहरा सका।

स्टेशन के कुली ने तुम्हारा सन्दूक तोड़ा, तो तुम चिढ़ उठे थे, मैंने भी तो गुनगुनाकर तुम्हारे गौरव की प्रतिमा भग्न [redacted] है।

उसे तुमने पैसे देने से इनकार किया था, मुझे भी अपना स्वर देने से इनकार करो गायक।

रिश्ता है?

सूरज ने रिश्ते से अपना प्रकाश नहीं चढ़ाया, वायु ने रिश्ते से अपनी गति न रोकी—रिश्ता! यह किस भाषा का शब्द है गायक?

साहित्य देवता

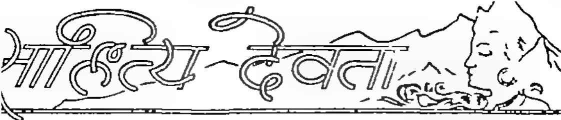
रिश्ता !—मानव के अधःपतन में, समर्थक ढूँढ़ने का प्रयत्न तो नहीं है यह !

रिश्ता—अपनों को संकट में डालने का मार्ग बन गया !

अब सेवा होगी या महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति ! विश्व का हित होगा या अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न !

रिश्ता, गायक, समर्पण की थातियाँ न बनाओ, उतार को रूप-दान न दो, पुरुषार्थ को हाट में न रखो।





'दूरी की निकटता'

'तू' और 'मैं' क्यों न ?

"—नहीं 'हम' कहो।"

क्यों ?

"—साथ घूमते हैं, साथ श्रम करते हैं, साथ लोहा लेते हैं, साथ-साथ सिर देते हैं।"

तब भी क्या हम साथ हैं ? द्वार से द्वार भले मिला हो, जी-से-जी मिला है क्या ?

"—यह जी क्या है ?"

अमरत्व; जिसमें मरण नहीं होता। प्राण, जो काटे कटे न मिटाये मिटे, न घटाये घटे,—

"—और उसका माप ?"

निकट आने पर बे-पहचान की-सी दूरी रखकर और दूर रहकर, और दूर रहकर, प्रणय के आलिंगन और आँसू समर्पित करके ही, सिर उठाने और सिर देनेवाले सिरधारी जान पाये हैं कि जी क्या है, प्राण कहाँ हैं।

"—दूरी में क्या है ?"

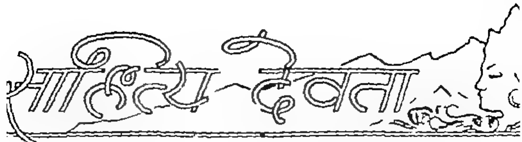
देवता ! मैं तुम पर आँसुओं के फूल चढ़ाऊँ। तुम्हारी याद पर बलि बलि जाऊँ, तुम्हें पाने के लिए व्याकुल रहूँ।

"—क्या यह कृत्रिमता नहीं है ?"

कैसी कृत्रिमता ! दूर हूँ, तब तुम्हारे गुण सुनते-सुनते नहीं थकता; दूर हूँ तब तुम्हारे गुण-गान गाते नहीं अघाता; दूर हूँ तब तुम्हारी यादें भरी

साँसें बन जाती हैं; दूर हैं तब तुम्हारे ध्यान पर लटकते चरणों पर मत्था रखते जी में उमेठन नहीं पड़ती; दूर हैं तब मेरे बाग़ के झाड़ों की क्यारी के बीच खड़े भी चन्दन बनाकर वहाँ खड़ा हूँ वही तुम्हारे मस्तक पर चन्दन-सा चढ़ाने लगता हूँ और आँसों का अर्घ्यदान करता हूँ किन्तु तुम अपमानित नहीं होते; दूर हैं तब, मेरी, किसी भी रस की कोई भी गुनगुनाहट, तुम्हारी प्रार्थना का सामगान बन जाती है; दूर हैं तब क्रिया तुम्हारी सेवा और मेरी सेवा तुम्हारा मनोरंजन है; दूर हैं तब तुम्हारी हर कड़वी आलोचना, तुम्हें दी गई हर गाली, तुम्हारा किया हुआ हर दुश्मन, तुम पर किया हुआ हर आरोप और तुम्हें अपने से छोटा मानकर, तुम्हें अपने अन्तर में जगह देने का हर आयोजन—अपनी बाँसुरी पर तुम्हें नृत्य के लिए विवश करना, अपनी रीझ में तुम्हें पुकार उठना, अपनी खीझ में तुम्हें दुतकार उठना, और फिर अपने को कभी तुमसे बड़ा, कभी छोटा, पाना—यह मेरा सत्य है या मैं अनुभव कर पाता हूँ; और दूर हैं तब 'मैं' को 'तू' मानकर कौन-कौन लाड़ नहीं लड़ाता, कौन कौन शिकायतें नहीं करता? कौन-कौन आरोप नहीं करता, कौन-कौन-से अपने अपराध गिन-गिनकर तुम्हारे सामने नहीं रख देता—क्योंकि उस समय तू हो जाता है मैं, और मैं हो जाता हूँ अति नम्र आत्म-निवेदन।





जीवन का प्रथम-चिन्ह—खी

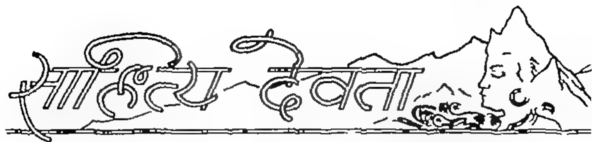
(१)

नर और अमर, चर और अचर और स्थिर तथा वस्तु, सब में ऐसा कौन-सा भाव है जो वे, पृथ्वी पर रहकर ऊपर का उठना नहीं जानते। किन्तु सुदूर-से-सुदूर ऊपर से असहाय, बेबस अनिवार्य, अबाध, नीचे की ओर चले आते हैं। क्या इसे आकर्षण कहते हैं! सुख का अमर, पहुँच की मिठास, जन्म का संकेत, मरण की प्राप्ति और अमरता का चिर सन्देश!

क्यों नहीं तुममें उलझन मालूम होती, आकर्षण! मिट्टी में मिला हुआ तन, मिट्टी में मिला हुआ प्राण, वह लो, आकाश को चला! कीच और पत्थर में से सर उठाता हुआ!! परन्तु समय तो दयालु न्यायाधीश नहीं है। उसने नन्हीं-सी उगती हरियाली पर ये लो काँटे उगा दिये।

हाँ तुम बिगड़ कर चल आकर्षण से!! और सूरज स्वरूप देने चाँद स्वभाव देने, हवा प्राण देने और कीच की भूमि मीठा-सा स्वाद देने में जुट गये। तुम्हारे काँटे अधिक हैं या समय के दिन अधिक; शायद, काँटे सूरज की मिहनत को, धाम के अन्दाज़ का पराभव किये हुए हैं। ठीक है, तुम्हारी उम्र के दिनों से काँटों का इस तरह बढ़ जाना उस कलाकार की तरह है जिसके उम्र के वर्षों से उसकी कला कृतियाँ अनन्त गुना होकर विश्व में प्रमुख आ जाया करती हैं।

कोमल हरीतिमा में और नन्हीं उठान में ही ये काँटे जनन व उत्थान! और यह सब निर्माण किसके लिए! फिर एक डाली, फिर



नये काँटे । कितनी हरियाली झाड़ी लगी है । लोगों ने कहा, ये काँटोंवाले झाड़ हैं ।

किन्तु इन काँटों में से यह क्या होने लगा ! गुलाब ! यह लाल-लाल क्या है ! यह गुदगुदी सी कैसी है ! यह पंखुड़ियों की हरियाली मुट्ठी में क्या बँधा है, खोलो तो !

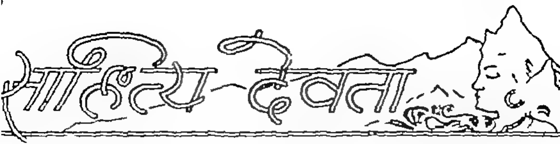
ओहो तुम हो आश्चर्य ! तुम्हारा तो स्वभाव नीचे की ओर जाना था न ! और यह लो, दस-पाँच से भी काँटोंवाली कहानी उनके ज़बानी न पूछ पाया कि हरे ओठों में से निकलने वाली शेषनाग की हज़ार-हज़ार जीभों की तरह खिलनेवाली कलियों की पंखड़ियाँ, वे ज़मीन पर आ गिरीं ।

मैंने घूमकर देखा, इतनी कठोर यात्रा ! कीचड़ से चूसती और काँटों में ज़िन्दगी बिताती, अपने परिणाम पर पहुँचने में इतनी बेतरह ! आहो तुम हो आश्चर्य !

किसने उस दिन कहा था, आश्चर्य न हो तो कोई क्यों जीये । फिर न जाने किसने उस पर भाषा-टीका की थी कि आश्चर्य के बिना सुख कहाँ । क्या जिनके आश्चर्य है वे सुखी हैं ! क्या जो सुखी दीखते हैं उन सब में आश्चर्य है ! तब तो यह जीवन का शाप है जो मिलकर रहा होगा ।

और क्या सुख सबके पास है तब वह दुःख से भी बदतर होगा । किन्तु अभी तो उस काँटेवाले वृक्ष ने कहा था कि वह हरीतिमा लेकर दुख से उठा था और आश्चर्य पाकर पंखुड़ी-पंखुड़ी धूल में मिल गया ।

किससे पूछें कि क्या ऐसा कोई सुख ही नहीं है जिसमें किसी आश्चर्य की ज़रूरत ही न हो । और क्या ऐसा कोई आश्चर्य ही नहीं है जिसमें सुख



की इच्छा न हो। ताँबे के एक पैसे का आकर्षण सँपेरे को साँप के साथ खेलने का खिलवाड़ प्रदान क्यों करता है? डुबकी लेकर लौटने के बाद ली जाने वाली साँसों समेत अपना पेट भरने के लिए मोती खान वाले मनुष्य के मन में ताँबे का पैसा यह आकर्षण क्यों उत्पन्न करता है कि वह अपनी जान की, एक साँस का भी जिसके साथ अनन्त साँसें अभी तक जुड़ी हुई हैं, बाज़ी पर लगाने और पानी में गिराने के लिए गोते पर गोते खाए? अत्यन्त ग़रीब, रूप से विरूप, वैभव से रहित, कष्टों से लाचार और कुष्ठ का रोगी रेलवे प्लेटफार्म से जूठी पूड़ियों के टुकड़े और तरकारी से लिपटे हुए पत्ते समेट कर एक अधेड़, पागल किन्तु ज्वर से बीमार स्त्री के पास उसके मुँह में जूठी तरकारी पत्तों में से खोद-खोदकर क्यों डाल रहा है? और द्विरागमन के प्रथम-मिलन, अथवा मृत्यु की अन्तिम-भेंट की, सावधानी और उत्सुकता के साथ इन दोनों ही प्राणी कहलाने वाले बदनसीबों की आँखों में यह आँसू क्यों भागते हैं? क्या तुम हो आकर्षण? क्या तुम हो सुख?? क्या दोनों एक साथ हो? या एक जा चुका है और दूसरा आता जा रहा है? आकर्षण, यदि तुम ही हो तो नारद की वीणा से कोढ़ी की जूठी पूड़ियों तक ठहरने के लिए तुम्हें किसी ने रोका नहीं?

क्या तुम प्रभु से अधिक बलवान हो आकर्षण, जो वह तुम्हें नहीं रोक सका, न ऊँचे पर जाते हुए न नीचे पर आते हुए? फिर वह महाप्रभु क्या कह रहा था उस दिन? क्या इस कोढ़ी और इस पगली की तक़दीर भी किसी महाप्रभु किताब में लिखी है आकर्षण? यह मैं कैसे जानूँ कि वीणा लेकर नारद बाबू ज़मीन पर, या पगली का अनपहचाना प्रीतम कोढ़ी ऊँचे पर, खड़ा है?

तुम्हें प्रेम कहते क्रोध आता है आजकल। शर्म मालूम होती है। लाज लगती है। विवेक से शायद ही तुम्हारा कोई रिश्ता हो सकता है। वेश्या से लगाकर परम-भक्त तक सब जिस प्रेम शब्द पर अपना अधिकार रखना चाहें, रक्खे [illegible] हों, उस शब्द के भी क्या कोई अर्थ रह जाते हैं। तो क्या, एक लिंगाग्र से जीवन की परिसमाप्ति तक जो डोर हिल रही है और जिस पर पक्षियों की तरह फिर उड़ता और फिर बैठता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का जड़ चेतन ठहरा हुआ है, उस अनश्वर सत्ता—प्रेम—के अस्तित्व के मानी मानने से कोई इनकार कर सकता है।

जीवन की दोपहरी बोली, प्रेम ने मुझे क्या नहीं दिया! और उस दोपहरी में आनेवाले बेशुमार स्वेद-बिन्दुओं ने कहा, इस कमबख्त प्रेम ने हमसे क्या-क्या नहीं ले लिया।

ऊँची-नीची-सी दीखनेवाली उसाँसों की मन पर अनन्त बोझीली अगणित गाँठों में तुम्हारा रहस्य देखूँ प्रेम!—या, गाम्भीर्य का दिवाला कहते हुए, बाजारू कुत्ते की तरह टूट-टूट पड़ते आँसुओं में, तुम्हारा छोटापन देखूँ!

जीवन की चाहों का बँधना-बोरिया समेटकर मैं चला किस तरफ था! साँसों की यह सड़क किस तीर्थ की ओर जा रही है और कहाँ जाकर ठहरना होगा! क्या मरण के महान् क्षेत्र पर! क्या यह लाचारी है कि मुझे मृत्यु के मन्दिर तक जाना ही होगा!

फिर वह तीर्थ नहीं है। तीर्थ में मर्जी के बिना लोग नहीं जाया करते। तुम मुझे कारागार में ले जा रहे हो। उस जगह जहाँ पर मेरी मर्जी ना-मर्जी नहीं चल सकती।

जन्म की पहली साँस के साथ मैं तो रोया था बदनसीब! जीवन की मैंने उस दिन यात्रा-दीक्षा ली थी। किन्तु, चारुहास! तुम आ गये। माँ के दूध में से गुज़र कर मेरे मुँह में। मेरे रुदन को तुमने संघर्ष कहा; मेरी साँसों को तुमने हर्ष कहा। और मैं भूल ही गया कि मैं पहिले दिन रोया था।

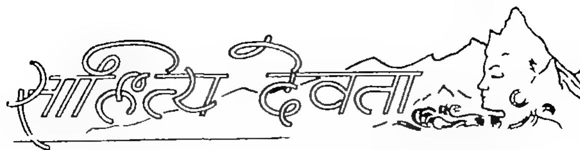
और तुम आ ही गये; मुझे दूध पिलाते, मुझे लड़ाते, मुझे अँगुलियों चलाते मेरी पशु-जैसी किलकारियों में से मानव जैसे बोल उपजाते; मेरे जीवन के विकास के लिए तापमान का निर्माण करते और दुग्ध की स्निग्ध धारा से मेरी अनन्त साँसों को गढ़ते। तुमने ही तो यह सब अनर्थ किया है। मैं नहीं जानता था कि तुम कौन हो। आज भी नहीं जानता।

तुमने कहा 'माँ' बोलो बच्चे; और मैंने माँ कहा। आह यह तुम हो प्रेम! तो यह तुम्हारा कौन-सा दुलार है कि ली जाने वाली साँस में, फिर जानेवाले क्षण में और इस तरह सम्पूर्ण जीवन में यह संघर्षण हो। क्या तुम स्वयं संघर्ष हो?

कल्पना, कलह, केलि और हँसी ये मेरी आदतें नहीं हैं। यदि यह सब कुछ तुम्हारा है तो संघर्षण का वरदान मुझे क्यों? और यह संघर्षण किस दिन पूरेगा? क्या ली जानेवाली अन्तिम साँस के दिन? तब प्रमाण जादूगर प्रेम, यह साँस और कुछ नहीं केवल तुम हो।

यात्रा तुम्हें पूरी करनी है और बोझ मुझे ढोना है। मैं तो राहुल सांकृत्यायन की तिब्बत यात्रा में मिलनेवाला कुली हूँ जिसे सारा बोझ उठाकर मृत्यु के 'ल्हासा' तक पहुँचा देना है।

यह कौन मानेगा कि साँस मेरी नहीं है। मानव बेचारा! न जाने किस-किस को अपना कहने को बाध्य है। और सारी क्रियाओं और



किलकारियों में जब बचपन के सुख की याद आती है तब रुदन याद आता है। संकट आया, कि रुदन आया।

अनहोना चढ़ाव है कि रुदन, कठोर उतार है कि रुदन, असीम घुमाव है कि रुदन। एक मूल मन्त्र है कि जीवन की पहली साँस के साथ मिला। आँसुओं ने ही इसे हरा भरा ही रखा। जन्म में तो यह पहला है जन्म-तिथि में भी यह बड़ा भार है।

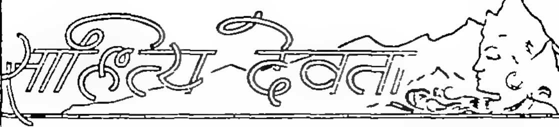
(२)

आँख-मिचौनी का खेल पूरा नहीं होता; वह पूरा हो जाता है, जब बरसों से तरस-तरस कर ढूँढ़ा जानेवाला व्यक्ति आँख-मिचौनी खेलने वालों में शामिल हो जाय। और मरण के क्षणों में भी उसका खेल समाप्त न हो।

तुम ऐसे ही रहस्यवादी हो प्रेम! आखिर तुम हो क्या? सिर में जो मीठी-मीठी-सी तसवीर बनती है, क्या वह तुम हो? फिर जो छू जाना-सा घटना बनकर कहीं घट जाता है वहाँ तुम क्यों हाजिर मिलते हो?

क्या तुम वह प्राण हो जिसे सर्वनाश के साथ गंगाजल का अभिषेक करके कहा जाता है? अथवा तुम वह हो जो निर्माण में अपने जैसा अथवा अपने से भिन्न बनकर अपनी ही गोद में फिर से खेलाने के लिए लालच पड़ता है?

क्या तुम महान् नाशपल के अथवा विश्व के महान् निर्माण के लाचार, एक से दो होने की जरूरी शर्त हो? निर्माण से पहले भी और निर्माण के बाद भी? फिर दो की यह लाचारी संसार चलते-फिरते गतिशील अस्तित्व ही के पीछे क्यों पड़ी है? धूलि में लटकनेवाला जन्म का और



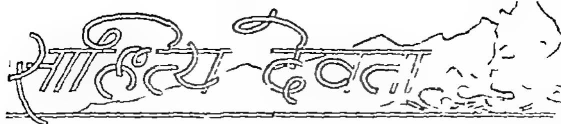
इष्ट की बात पर आनेवाले पक्ष का दूसरा पक्ष और दूसरे व्यक्ति की सहायता की ज़रूरत क्यों नहीं होती ।

जिन धर्मों का अस्तित्व जगत् में कहीं न भी बचा हुआ सुनाई पड़ जाय उन्हें क्षितिज के आस-पास दूरी पर रखने की सुगमता कितनी है ! वे या नज़दीक-नज़दीक रहते तब भी वही बात होती । और जिन आँखों को सामने से ओझल में हो जानेवाला पदार्थ मिल न दीखे और आगे बढ़ने पर पीछे का पदार्थ तक न मालूम हो, उन्हें सदाकाल उजाले में रखने की सावधानी कितनी है ? यह सम्पूर्ण दिशाओं को अन्धकार में रखकर एक ही अन्तर में दो-दो लालटेन लटकाने का अनुराग का धन्यवाद किसे दिया जाय ! क्या वही इस बात के लिए ज़िम्मेदार है कि वृक्षों में और वनों में राजा भी खुद हो, रानी भी खुद । अपना प्रियतम भी वे ही और प्रियतमा भी वे ही । मन कहता है, अद्वैत के चरणों में निर्वाण का रस नहीं रहता ! तब क्या, इस रस की आवश्यक शर्त है कि अद्वैत गतिहीन हो, भगविहीन हो, जड़ हो ! माना, निर्वाण की घड़ियाँ तन्मयता में अलस्य जागरणशील जग में ऐसी जड़ता की माँग करती हैं; किन्तु मेरा अनुमान्य हुआ प्रणाम कितना जानना चाहूँ कि निर्वाण की या प्रेम की शर्त दुहरा, द्वैत, क्यों है ।

फिर तुम्हारे अवतार-उतार भी तो विचित्र हैं प्रेम ! एक राजा था, अत्यन्त अत्याचारी । मानव ही राजा था और मानव जन ही प्रजा था मान लो । जो भूकम्प से न डरते थे वह उससे डरते थे । जो बादलों से नहीं डरते थे—उन्हें पैर पर पर कटते थे वे अत्याचारी राजा की फूँक से उड़ते थे । और सम्पूर्ण अत्याचारों का बरसनेवाला वह, अब अपने अत्याचारों की धानी-धानी भयानी पृष्ठभूमि पर किसी कुसुमसमता के कन्धे पर हाथ रख

कर मुस्करा उठता है और जीवन की माँग कर उठता है तो धन्य होकर, बावला जीवन अपने समस्त मीठेपन को लेकर उसपर समर्पित होने क्यों दौड़ता है? यदि दौड़ता है तो वह यह क्यों कहता है कि जो किसी पर प्रेम न कर सका वह मुझपर प्रेम करता है। क्या यह सम्मोहन भी प्रेम ही कहा जायगा, प्रेम? क्या प्रेम की विरासत पाने के लिए आतंक की पृष्ठभूमि निर्माण करना प्रेम की परिभाषा कहा जायगा?

ना यह बात नहीं है कि इन पंक्तियों के लेखक ने अनावश्यक आतंक की भयानक भूमिका ले ली। अच्छी भूमिका लीजिए। एक सदात्मा है, गुणी है, विद्या का भंडार है कला का आगार है। बस, जीवन की खरीद फ़रोख्त को इतनी शर्त काफ़ी हो गई? फिर प्यास तो हरएक को लगती है न? करोड़ों की प्यासी दुनिया की प्यास के लिए करोड़ों की ऐसी प्यासी दुनियाँ कहाँ से लाई जायगी? यदि नहीं तो सोलह हजार गोपियों के कन्हैया क्या इतिहास के परे के युग को छोड़कर पुनः जगत् में अनेक अवतार धारण करेंगे? और यह तो बताओ कि जिस गुणज्ञ को गुणज्ञ समझकर प्यासी आँखों ने अपने आपको समर्पित किया, यदि उससे अधिक गुणज्ञ, मिल गया तो? और मिलता ही चला गया तो? क्या रोज़ाना एक के प्रति ईमानदार होकर दूसरे को ढूँढ़ते रहना ही प्रेम की परिभाषा होगी? समाज संगठन बिगड़ने का तर्कशून्य कारण देकर मैं अपने पक्ष का उत्तर नहीं चाहता। क्या प्रेम, जीवन की अस्थिरता का नाम होगा? क्या प्रेम के बाज़ार खुलेंगे और नीलाम खुलेंगे? फिर भक्तवर नारद से लगाकर वेश्या तक सब प्रेम के हकदार हों तो इसमें आश्चर्य क्या? और तब क्यों प्रेम 'शब्द' का कोई अर्थ चाहिए? तब क्या प्रेम नाम की कोई वस्तु नहीं है इस रूपमें माने



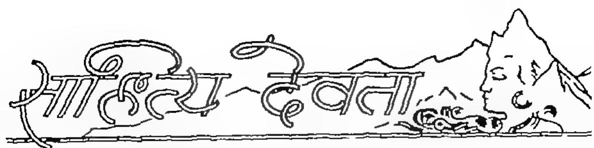
पाई, की दुनिया में ?

रुपया, आना, पाई—यह किस चीज़ का नाम है ? क्योंकि आदर्शवाद और रुपया-आना-पाई, क्या ये दोनों ही जीवन की तराज़ू के दो पलड़े हैं ? फिर जो भूखा रोटियों के टुकड़े माँगकर मेरी ओर से सड़क के राहगीरों का मेरे घर के पास से नहीं गुज़रने देता वह आदर्श प्रेमी है ? वे मेरी गाड़ी ले जाया करते हैं मैं उनके कोट पहिन लिया करता हूँ। वे मेरे द्वारा खर्च किये गये अपने पैसों का हिसाब नहीं रखते और मैं उनके द्वारा नष्ट की हुई अपनी वस्तुओं का लेखा जोखा नहीं रखता हूँ। क्या लेन-देन में यह सावधान या असावधान लापरवाही प्रेम की अनिवार्यता है ? तब मेरी आकांक्षाओं की वृद्धि पर एक मुहरें-ढेरी की जगह चार मुहरें-टेलियाँ लुटानेवाला मित्र जान लो ! क्या जीवन के गहन के बाज़ार में अधिक से अधिक दाम लगाना ही प्रेम कहा जायगा ?

किन्तु, एक प्रश्न बड़ा अटपटा-सा है। सौन्दर्य मानव की कमज़ोरी है। पृथ्वी पर उतरते हुए मानव की आँखों के दलाल भी तब पहचान के लिए सौन्दर्य का नये से नया नाम ढूँढ़ते फिरते हैं। सौन्दर्य !—बिलकुल निराली वस्तु है। मेरा अपना जिसमें कुछ नहीं है।

एक नन्हा-सा बच्चा, नन्हे-नन्हे घुँघराले बाल लहराता, कभी किलकता, कभी फुदकता, और कभी रोता हुआ सड़क पर आ गया, मैं दौड़ा और बच्चे को चूमने, दुलराने, लाड़ने लगा। क्या यह मेरी उदारता है ? यह महानता है ! यह निरा-कुतूहल है ! यह भ्रम है ! मानव की बुरी-से-बुरी भावना को अच्छे-से अच्छा नाम देने के लिए मानव निर्लिप्त रूप में शब्दों का ढोंग क्यों गढ़ने लगा ?

किन्तु क्या मेरी आँखों और कानों में न गुज़र कर निकलनेवाले मन की



यह सौन्दर्य-लोलुपता न थी। नहीं तो मेरे चुम्बन और हाव-भाव के बीचों-बीच मेरी माई और ताँगे के धक्के से टकरा कर गिरा हुआ काला, मैले कपड़ोंवाला किन्तु तरसती करुणामयी, असहाय आँखोंवाला बच्चा मुझ प्रेम के सम्राट् के कृपा-कणों का पहला अधिकारी क्यों न हुआ! मेरे पीपल के पेड़ के आँखें होतीं तो वह देखता कि मेरा हर चुम्बन और दुलार छद्म प्रेम के खिलाफ़ मेरा विश्वासघात था।

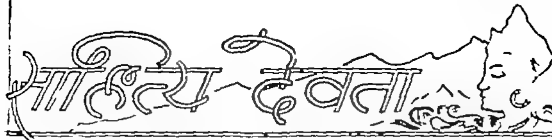
एक ओर या दोनों ओर उफननेवाले मैटिपन की बाड़ी लगाकर क़दम-ब-क़दम चढ़ना और अपने अभिमत की नज़र पर सदैव सुन्दर बनकर झूमते रहना और इस सुन्दरता की होड़ा-होड़ी का खेल सतत जारी रहना, क्या यही सौन्दर्य है?

ज्ञान ने जीवन को भुलाने की जो विश्वासघात-पूर्ण कला सिखाई है—जिनके पास वह नहीं है वे इस हाट में क्या करें?

और मानिये एक राजा था और उसके थी एक रानी। राजा कुछ साँवला था रानी गोरी गर्क। एक दिन की बात कि चेचक से रानी का सौन्दर्य विकृत हो गया। यह क्या, रूप की ओट में राजा को जिस रानी में खास-खास गुण दीखते थे, रूप का पर्दा छिद्रोंवाला होते ही रानी के सब गुण छनकर बह गये, और फिर एक नये रूप की तलाश! फिर, चमड़े के सफ़ेद, पीले, काले के भेद भी होने लगे और ये सब प्रेम के नाम पर।

माँ थी तब बच्चे के रुदन से बच्चे की भूख माँ का स्तन उठा करती थी। अब रमणी हुई [illegible] रूप की राक्षसी नित नये खूबसूरत खाने लगी।

तब यह, या अपने अभिमत के कष्टों में व्याकुल होने का नाटक है ह केवल इसीलिए न कि विलास के सुखद क्षणों में बाधा पड़ रही है। यदि



विनाश का एक-कण कबूल न हो सके तो प्रेम का अस्तित्व ही शायद नहीं चाहिए।

बोलो प्रेम! क्या तुम रूप पर अवलम्बित हो? जिन विधाता की कलम ने जिन अभागों के मुँह नहीं पोते उनके मुँह का दरद क्या उनके हृदय का दिया जायगा? क्या उन हृदयों को जो कह उठते हैं हम ज़िन्दगी भर कष्ट बर्दाश्त कर लेंगे; तुम सुखी रहो। क्या उन हृदयों को जिन्होंने अपने सर्वनाश का पता न दिया और हृदय के पानी से अत्याचारी आमन-स्वप्न को हरा-हरा करके रखा। तब तो हसरत की कल्पना में आग लगने का तमाशा रूप की हाट से सुन्दर और कहीं नहीं देखा जा सकता। उसी रूप की हाट में जिसने जाकर लौटना नहीं जाना। और उसी हृदय के खिलाफ़ विद्रोह करके जिसने तपाभत पर आकर लौटना नहीं जाना।

कहो प्रेम, तुम रूप हो? तब रूप में सुख अनुभव करें कि तुम में? तुम तो सुख के साथी थे न, रूप की रहन रखी हुई जायदाद कब से हुए?

प्रेम!

कितना छोटा-सा शब्द, कितना बड़ा रहस्य और सब छिपे हुए!

कितना छोटा-सा शब्द, जो मानव के पहले न हुलैकता था, न ध्यान जितना रहा है,—और न जाने कितना उसमें छल रहा है।

(२)

एक विनाश का सपना उधार हूँ मैं—जीवन-रथ पर चढ़ तीर्थयात्री हम, संघर्ष में घड़ियाँ बिताते हैं, दिनों में दिन, महीनों से महीने, बरसों से बरस लड़ा देते हैं; और इसके बाद हमारा तीर्थ आ जाता है—मरण।

एक अनहोना संघर्ष, माँ के गर्भ से टपकने के पहले दिन के पहन से

प्रारंभ होता है और राम कहलाने के लिए परेशान करनेवालों की बेचैनी के बीच, ली जानेवाली अन्तिम साँस के साथ खतम होता है।

घटना-घटना में, जिसकी साँसें शेष रह गई, जो विद्रोह में, दुर्घटना में, रोग में, कष्टों में,—यमराज मुक्त होकर निकल आया, उसका हर्ष, संघर्ष से पुनः प्रारम्भ होता है।

ऐसे कठोर संघर्ष में भी, तुम जी ले जाते हो—तुम!—प्रेम!!

प्यार, क्या सुख से भी तुम्हारा कोई रिश्ता है! कम लोग जानते हैं। क्या सुख से तुम्हारा रिश्ता नहीं है!—कम लोग इस पर विश्वास करते हैं!

ओ प्रेम! सुख भी तो तुम्हारी ही तरह रहस्यों से भरा है!

चोर जेल में जाकर रोता है, देशभक्त जेल में जाकर गर्वित होता है—एक कार्य में, एक कष्ट में, एक असुविधा में, एक खतरे में, दो भूमिकाएँ—एक सुख-नाश की, दूसरी सुख निर्माण की।

सम्पूर्ण समझदारी के दावेदारों से पूछो, क्या उन्हें प्रेम का भी दावा है! और सम्पूर्ण-ज्ञान की उलझन भरी सुलझनों के गर्वितों से पूछो—क्या कभी उन्होंने सुख पाया है!

और क्या समस्त संसार के समस्त गुणों और विशेषताओं की रूह ने, उनके अन्तरात्मा और बाहिर्मन ने, यह कभी जान पाया है कि प्रेम और सुख, कब साथ आते हैं, कब अलग अलग! कब आते हैं, कब चले जाते हैं! और किसके आने पर कौन जाता है! किसके जाने पर कौन आता है! किसके आने पर कौन जाता है!

शर्म, बेशर्मी, और संकटों में भी, जीवन की तरह, दुलराये जाने का लालच उत्पन्न करने में सफल तुम, प्रेम, टुकड़े-टुकड़े हाले और रक्त-दान में लहूलुहान

भाग्य पर उसी के रक्त से 'आनन्द' लिखने में परम निष्ठुर तुम, प्रेम; कौन कहता है कि जगत् ने तुम्हें मधुर कहकर, माधुर्य के साथ विश्वासघात नहीं किया! और कौन कह सकता है कि उसने विश्वासघात किया ही—अनिर्वचनीय तुम!

प्रेम और सुख! यदि तुम दुश्मन हो तो सगे, यदि तुम दुःख हो तो बड़े अत्यन्त प्रिय, यदि तुम मित्र हो तो बड़े षड्यन्त्रकारी, यदि तुम उपकारी हो तो बड़े भयङ्कर, यदि तुम पक्ष हो तो बड़े निर्दय, और यदि तुम अस्तित्व हो तो बड़े आकर्षक, मधुर, मोहक!

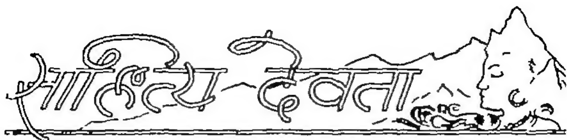
तुम में बिना प्रवेश किये, तुम में से बिना आरपार गुज़र, तुम्हारा बिना स्वाद किये ही, तुम्हारा महान् मूल्य मानने के लिए मानव कितना लाचार! कितना उतावला! कितना अन्धा! 'प्यार' को वह 'प्राण' कहने लगता है। ठीक भी है, 'सिर' देने की बात भी लोग सिर ही में तो सोचते हैं!! और मूल्य भी कितना भारी, अभी उस दिन सम्राट् एडवर्ड ने गद्दी हाज़िर कर दी।

तुम्हारा हाथ कितना भारी—गद्दी, मुकुट, सोना, चाँदी, रक्त, राज्य, इज़्ज़त आबरू, प्राण—क्या-क्या नहीं खा गये तुम!

किन्तु 'सुख' के बिना भी क्या कोई जीना चाहे! प्रेम के बिना भी क्या कोई जीना चाहे!—और इन दोनों का प्रतीक, इन दोनों का संयोग, इन दोनों की सुनहरी ग्रन्थि कौन?—स्त्री!

स्त्री! तुमने हमें जन्म दिया, प्राण दिया, तुमने हमें सुख दिया—और दिया अपना प्रेम। तुम्हारे स्नेह से स्वर्ग का वह द्वार खुल गया, जिसे हम कपाट की दीवार समझे थे, तुम्हारे स्नेह से अन्धों का दीपक जगा—और खुल गई आँखें और आँखवाले अन्धे हो गये।

तुम्हारे स्नेह ने हमारी समझ को माँजा, उसे कसौटी-सा बनाया, हमारे



मनोभावों को सुकोमल और बारीक-से-बारीक किया, और प्रेम-पथ के ईमानदार पुजारियों की सुख के पैमाने से गोदें भर दीं।

किन्तु स्त्री!—तुम जो यह महान् शक्ति अपने में रखे हुए हो, क्या तुम भी अपने जीवन-पथ में, आँखें मूँद कर ही चली जा रही हो!

तुम जानो देवि, यह पहले, सबसे पहले जानो, कि क्यों प्रेम की अवतारणा प्रभु ने तुममें की है! किस मतलब, किस उद्देश्य से! क्यों तुम्हें यह वरदान प्राप्त है?

तुम जो अवसर से उत्पन्न और परिस्थितियों से बे-काबू हमारे केवल कुछ बरसों की गाँठ में बँधे जीवन को, स्वर्ग बनाने की क्षमता रखती हो, क्या जानती हो कि प्रेमदान से जो तुम मानव के लिए स्वर्ग का निर्माण करती हो, उसे तुम्हें किस-किस मारकीय कठिनाइयों में से गुज़र कर निर्माण करना होता है! और ज़मीन पर उत्पन्न होकर, आसमान का, स्वर्ग का कौन-सा घुन तुम्हारे कलेजे में घुसता रहता है।

पुत्रि! ओ स्त्री के अभिनव संस्करण! ओ प्रेम के मधुरतर और कटुतम स्वाद, तुम अनुभव करो और जानो, कि तुम्हारी हस्त-रेखाओं पर आकर्षण शीला भूमि का स्वभाव, उसकी शक्ति उसका स्नेह, उसकी हरिशामा, और सहनशक्ति और सबसे अधिक उसका प्रथमम ठहरा हुआ है। यह जानो, क्योंकि इसे जानकर ही तुम जान पाओगी कि तुम्हारे स्वयं के अस्तित्व का वरदान क्या है!—वह है कण का जगत्, फिर नया फल, फिर नया फल,—और समय का बिना छोरवाला अमर होना।

